इस माला में अब तक प्रकाशित हिन्दी पुस्तिकाएँ

लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ : हेम बरुआ / **बंकिमचन्द्र चटर्जी** : सुबोधचन्द्र सेनगुप्त / **बुद्धदेव बसु** : अलोकरंजन दासगुप्त / **चण्डीदास** : सुकुमार सेन / **ईश्वरचन्द्र विद्यासागर** : हिरण्मय बनर्जी/**जीवनानन्द दास** : चिदानन्द दासगुप्त/**काजी नजरुल इस्लाम** : गोपाल हाल्दार / **महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर** : नारायण चौधुरी / **माणिक बन्द्योपाध्याय** : सरोजमोहन मित्र / **माइकल मधुसूदन दत्त** : अमलेन्दु बोस / **प्रमथ चौधुरी** : अरुणकुमार मुखोपाध्याय / **राज' राममोहन राय** : सौम्येन्द्रनाथ टैगोर / **ताराशंकर बन्द्योपाध्याय** : महाश्वेता देवी / **सरोजिनी नायडू** : पद्मिनी सेनगुप्त / **तरुदत्त** : पद्मिनी सेनगुप्त / **गोवर्धनराम** : रमणलाल जोशी / **मेघाणी** : वसन्तराव जटाशंकर त्रिवेदी / **नानालाल** : उमेदभाई मणियार / **नर्मदाशंकर** : गुलाबदास ब्रोकर / **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** : मदन गोपाल / **बिहारी** : बच्चन सिंह / **देवकीनन्दन खत्री** : मधुरेश / **घनानन्द** : लल्लन राय / **जयशंकर प्रसाद** : रमेशचन्द्र शाह / **महावीरप्रसाद द्विवेदी** : नन्दकिशोर नवल / **जायसी** : परमानन्द श्रीवास्तव/ **प्रेमचन्द** : प्रकाशचन्द्र गुप्त /**राहुल सांकृत्यायन** : प्रभाकर माचवे/**रैदास** : धर्मपाल मैनी / **श्यामसुन्दरदास** : सुधाकर पाण्डेय / **सुभद्रा कुमारी चौहान** : सुधा चौहान / **बी० एम० श्रीकंठय्य** : ए० एन० मूर्तिराव / **बसवेश्वर** : एच० थिप्पेरुद्रस्वामी/ **विद्यापति** : रमानाथ झा/**ए० आर० राजराज वर्मा** : के० एम० जॉर्ज/ **चन्दु मेनन** : टी० सी० शंकर मेनन / **कुमारन् आशान** : के० एम० जॉर्ज / **महाकवि उल्लूर** सुकुमार अषिकोड / **वल्लत्तोल** : बी० हृदयकुमारी / **दत्तकवि** : अनुराधा पोत्दार/ **ज्ञानदेव** : पुरुषोत्तम यशवन्त देशपाण्डे / **हरि नारायण आपटे** : रामचन्द्र भिकाजी जोशी / **केशवसुत** : प्रभाकर माचवे / **नामदेव** : माधव गोपाल देशमुख / **नरसिंह चिन्तामण केलकर** : रामचन्द्र माधव गोले / **श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर** : मनोहर लक्ष्मण वराडपांडे / **तुकाराम** : भालचन्द्र नेमाड़े/ **फकीरमोहन सेनापति** : मायाधर मानसिंह / **राधानाथ राय** : गोपीनाथ महन्ती / **सरलादास** : कृष्णचन्द्र पाणिग्राही/ **भाई वीर सिंह** : हरबंस सिंह / **जाम्भोजी** : हीरालाल माहेश्वरी / **मुँहता नैणसी** : बृजमोहन जावलिया /**सूर्यमल्ल मिश्रण** : विष्णुदत्त शर्मा/**बाणभट्ट** : के० कृष्णमूर्ति/ **भवभूति** : गो० के० भट /**जयदेव** : सुनीतिकुमार चटर्जी / **कल्हण** : सोमनाथ धर / **माघ कवि** : चण्डिकाप्रसाद शुक्ल/ **सचल सरमस्त** : कल्याण बू० आडवाणी / **शाह लतीफ़** : कल्याण बू० आडवाणी / **भारती** : प्रेमा नन्दकुमार / **इलंगो अडिगल** : मु०वरदराजन / **कम्बन** : एस० महाराजन/**माणिक्कवाचकर** : जी० वंमीकनाथन/ **पोतन्ना** : दिवाकर्ल वेंकटावधानी / **वेदम वेंकटराय शास्त्री** : वेदम वेंकटराय शास्त्री (कनिष्ठ) / **गुरजाड** : नार्ल वेंकटेश्वर राव/ **वीरेशलिंगम्** : नार्ल वेंकटेश्वर राव / **वेमना** : नार्ल वेंकटेश्वर राव / **गालिब** : मु० मुजीब ।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

नारायण चौधुरी

भारतीय साहित्य के निर्माता

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

भारतीय साहित्य के निर्माता

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर

लेखक
नारायण चौधुरी

अनुवादक
गिरधर राठी

साहित्य अकादेमी

Maharshi Devendranath Thakur : Hindi translation by Girdhar Rathi of Narayan Chaudhary's monograph in English, Sahitya Akademi, New Delhi, Second Printing (1983).

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15-00

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण : १९७८
द्वितीय आवृत्ति : १९८३

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५, फ़ीरोज़शाह रोड, नई दिल्ली ११०००१

क्षेत्रीय कार्यालय

ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता ७०००२९

२९, एल्डाम्स रोड (द्वितीय मंज़िल), तेनामपेट, मद्रास ६०००१८

१७२, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई ४०००१४

मूल्य :

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15-00

मुद्रक :
भारती प्रिण्टर्स,
दिल्ली ११००३२

अनुक्रम

प्रस्तावना	७
जन्म तथा आरंभिक जीवन	११
धर्म के पथ पर	१७
संकट	२४
नयी दृष्टि	३०
अंतराल	३६
ब्रह्मो आन्दोलन में फूट	४३
जीवन का उत्तरार्द्ध	४६
साहित्यिक मूल्यांकन	५०
परिशिष्ट	
कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ और घटनाएँ	५७
ग्रंथ-सूची	६१
देवेन्द्रनाथ के संबंध में पुस्तकें	६३

प्रस्तावना

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर मूलतः एक धार्मिक नेता थे। बाङ्ला साहित्य को उनका अवदान एक तरह से उनका गौण कार्य था, क्योंकि अपने धार्मिक विचारों को सुचिंतित भाषा में और सुसंगत पद्धति से स्थापित करने की प्रक्रिया में ही उस साहित्य की रचना हुई थी। वस्तुतः उनका साहित्यिक जीवन (यदि हम स्वीकृत अर्थ में इस मुहावरे का प्रयोग करें) उनके धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग था। वे धर्मप्राण थे—उनका जीवन, आचरण और अस्तित्व, सभी कुछ धर्म में था। उन जैसे एक-दो अन्य लोगों को छोड़ उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाल के समूचे धार्मिक इतिहास में उन जैसा ईश्वर-भक्त नहीं मिलेगा।

देवेन्द्रनाथ उस 'धार्मिक सुधार-युग' की एक सर्वश्रेष्ठ उपज थे जो कि इस देश में ब्रिटिश हुकूमत के आने के बाद पूरे बंगाल में छाये सर्वांगीण पुनरुत्थान का ही अंग था। बंगाल पश्चिमी—अच्छे और बुरे—प्रभावों को सबसे पहले झेलने वाले भारतीय प्रांतों में प्रथम था; इस पारस्परिक संपर्क से जन्म लेने वाले अच्छे प्रभावों में शायद उपर्युक्त पुनर्जागरण या नवजागरण ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। राजा राममोहन राय इसके अग्रदूत थे जिन्होंने अनेक क्षेत्रों—धार्मिक सामाजिक, शैक्षिक इत्यादि—में नई शुरुआतें की थीं। महर्षि देवेन्द्रनाथ राममोहन राय के सीधे उत्तराधिकारी थे और अपने उस विख्यात अग्रज के अधूरे कार्य को, विशेष रूप से धार्मिक सुधार के क्षेत्र में, उन्होंने ही आगे बढ़ाया। ऐतिहासिक रूप से वे राजा राममोहन राय के युग तथा अपने परवर्ती धार्मिक नेताओं के दल के बीच की कड़ी थे। हालाँकि महर्षि अनेक क्षेत्रों में सक्रिय थे, पर धर्म ही उनका मूल प्रेरक तथा उनकी समस्त गतिविधियों का केंद्र था। इसलिए उनकी शक्ति और प्रतिभा का अधिकांश केवल धर्म की दिशा में प्रवाहित हुआ।

अस्तु, यदि हमें देवेन्द्रनाथ के साहित्यिक अवदान का आकलन करना हो तो हमें उनके धार्मिक व्यक्तित्व के मूल्यांकन के संदर्भ में ही यह प्रयत्न करना पड़ेगा। सच तो यह है कि इन दोनों वस्तुओं को अलग-अलग नहीं परखा जा सकता। ये दोनों इस तरह अन्योन्याश्रित हैं कि उनके साहित्यिक सर्जन के गुणावगुण पर विचार शुरू करते ही हम उनकी आध्यात्मिक यात्राओं के क्षेत्रों में जा पहुँचते हैं। क्योंकि देवेन्द्रनाथ ने जो कुछ लिखा या कहा है वह हमेशा उनके धार्मिक अनुभवों—उनके आंतरिक जीवन के ईश्वर से तादात्म्य-स्थापना में उनके आध्यात्मिक अंतर्द्वंद्वों और क्लेशों के अनुभवों—की व्याख्या के रूप में ही है। उनकी सारी रचनाओं

में उनकी 'आत्मजीवनी' निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ है। पर यह भी वस्तुतः उनके ईश्वर-लीन व्यक्तित्व की गहरी आकांक्षाओं और उमंगों का ही खरा और सच्चा चित्रण मात्र है। उनकी एक अन्य उल्लेख्य पुस्तक 'ब्रह्मो धर्मेर व्याख्यान' के नाम से ही उसके स्वरूप का संकेत मिल जाता है। ब्रह्म समाज के आचार्य के रूप में उन्होंने १८६१-६२ में व्याख्यान दिए थे, यह उन्हीं का संकलन है। इन कुल ३७ व्याख्यानों में उनकी विख्यात कृति 'ब्रह्मोधर्म'में संकलित अपेक्षाकृत गूढ़ श्लोकों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है; और 'ब्रह्मोधर्म' भारत के पुरातन ग्रंथों में प्राप्य पवित्रतम, उदात्ततम तथा परम आत्मोन्नायक विचारों का भंडार है। उनकी अन्य पुस्तकें भी कमोबेश इन्हीं दृष्टियों और दृष्टिकोणों को लिये हुए हैं। यथास्थान मैं उनका उल्लेख करूँगा।

अस्तु हम देखेंगे कि साहित्यकार के रूप में देवेन्द्रनाथ के गुणों और वैशिष्ट्यों का आकलन स्वभावतः ही 'दिव्य ज्योति' और 'सत्य' के अनुसंधाता के रूप में उनके जीवनगत प्रवास को समझने की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। इसी जीवन में, उपनिषदों तथा अन्य संस्कृत ग्रंथों में पुरातन ऋषियों द्वारा वर्णित सनातन सत्यों को साकार करना, यही उनकी गवेषणा थी, और उनका साहित्य मूलतः उसी गवेषणा की कथा का पुनराख्यान था। पुरातन भारत के ज्ञान का सारतत्त्व मानो देवेन्द्रनाथ की रचनाओं में एक आधुनिक भूषा और आधुनिक शैली में प्रस्तुत हुआ था।

पर यदि देवेन्द्रनाथ का समूचा व्यक्तित्व धर्म से आप्लावित था, उसकी सर्व-ग्राही ज्वाला में घिरा हुआ था, तो उन्हें मात्र एक धर्मप्राण संपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में परखने की बजाय उनके साहित्यिक सामर्थ्य पर अलग से ध्यान देने की वास्तव में कोई आवश्यकता भी है? भारतीय साहित्य को विभिन्न रूपों में समृद्ध करने वाले व्यक्तित्वों में से एक के रूप में उन पर विचार करने की आवश्यकता ही क्यों हो? लेखक के रूप में उनकी विशिष्ट अद्वितीयता क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर यह है: मूलतः और निश्चित रूप से धर्मान्वेषी होते हुए भी देवेन्द्रनाथ सूखे काठ-से संन्यासी न थे जिन्हें सौंदर्य या जीवन की अन्य अच्छी वस्तुओं का अहसास न हो। वे कलकत्ता के एक सम्पन्न और अभिजात खानदान के सदस्य थे जो कि विविध क्षेत्रों में रुचि लेने के लिए प्रसिद्ध था, बंगाल के सांस्कृतिक जीवन के सभी अग्रगामी आंदोलनों में आगे-आगे रहता था। उनके परिवार—जोड़ासाँको ठाकुरबाड़ी—का कला-प्रेम विख्यात था। वस्तुतः यह आश्चर्य की बात थी कि भव्य परिवेश की चमक-दमक में जन्मे और बड़े हुए देवेन्द्रनाथ ऐन युवावस्था में ईश्वर-आराधक हो गए, और तभी से उन्होंने सांसारिक सुखों का त्याग करना भी परमावश्यक मान लिया। उनके पिता प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर अपने युग में कलकता के एक सबसे धनाढ्य व्यक्ति थे, अपने युग के

सभी अग्रगामी आंदोलनों के उदारमना सहायक थे, राजा राममोहन राय के मित्र और सहयोगी थे और अपने शाही खर्चों के लिए प्रसिद्ध थे। देवेन्द्रनाथ ने बहुत निकट से जीवन के वैविध्य और विपुलता को जाना था; वस्तुतः वह उसके केन्द्र में थे। इसके बावजूद उन्होंने भोग-विलास का यह जीवन छोड़ दिया और चिंतन तथा भजन में लीन हो गये। बाहरी तौर पर उनके सभी सांसारिक तथा घरेलू बंधन यथावत् बने रहे, फिर भी वह अंतर्लीन हो गए; स्वकेन्द्रित व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्ति के रूप में जो ईशमय जीवन जिये तथा निरंतर ईश्वर से तदाकार होने की चेष्टा करता रहे।

उनकी आंतरिक खोज का स्वरूप चाहे जो रहा हो, रूप और सौंदर्य के प्रति संवेदनशीलता उन्हें परिवार से विरासत में मिली थी। उनके गद्यलेख को—कुछेक भजन और गीत छोड़कर उन्होंने सभी कुछ गद्य में लिखा है—ध्यान से पढ़ें तो उनकी शैली का सौष्ठव और संतुलन, अभिव्यक्ति की शालीनता और गरिमा, और सर्वाधिक, प्रकृति के सौंदर्यों की गहरी पहचान हमें चमत्कृत कर देती है। उनकी आत्मकथा के अनेक अंश, खासकर बाद का भाग जिसमें उन्होंने अधेड़ आयु में अपने हिमालय-प्रवास के अनुभव चित्रित किए हैं—एकांत और शांति की खोज में—उनके प्रकृति-प्रेम और अनूठी काव्यभाषा के दस्तावेज हैं। 'पत्रावलि' में संकलित उनके कुछ पत्र भी इसीके प्रमाण हैं। यह संयोग मात्र नहीं है कि उनके सबसे समर्थ पुत्र और विश्वविख्यात कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर में उनकी सर्जनशील प्रतिभा के असंख्य गुणों के अलावा यह गुण आजीवन मिलता है कि प्रकृति तथा उसके वैविध्य के प्रति वे अत्यंत सचेत रहे। उनके काव्य के इस गुण का रहस्य भी संभवतः खानदान और विरासत में खोजा जा सकता है।

राममोहन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, अक्षयकुमार दत्त और भूदेव मुखर्जी के साथ देवेन्द्रनाथ को हम बाङ्ला गद्य के शैशव काल में उसके प्रमुख निर्माता के रूप में रख सकते हैं। इस क्षेत्र में उनके अवदान पर विस्तार से चर्चा जरूरी होगी। आगामी अध्यायों में, उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में प्रकट हुए इस अद्भुत व्यक्ति के जीवन, अपने बहुमुखी व्यक्तित्व से बंगाली समाज को समृद्ध करने वाले उनके अवदान इत्यादि के अलावा उक्त विषय के भी विवेचन का प्रयत्न किया गया है।

जन्म तथा आरंभिक जीवन

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म कलकत्ता में १५ मई, १८१७ को हुआ था। वे जोड़ासाँको ठाकुर खानदान के वंशज प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर के सबसे बड़े बेटे थे। जोड़ासाँको ठाकुर परिवार उन्नीसवीं सदी में बंगाल का एक समृद्धतम तथा अभिजात परिवार था। अपने सौंदर्य और धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में तत्कालीन सभी अग्रगामी आंदोलनों में सहयोग के कारण प्रसिद्ध इस परिवार ने कला और धर्म के क्षेत्र में बंगाल को सर्वोत्कृष्ट सपूत दिए हैं। महर्षि रवीन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ इत्यादि उन्हीं में आते हैं। देवेन्द्रनाथ के दो छोटे भाई थे—गिरीन्द्रनाथ और नगेन्द्रनाथ। दो अन्य भाई बचपन में मर गये थे।

पिता द्वारकानाथ हर मामले में एक अद्‌भुत व्यक्तित्व थे। ठाकुर परिवार मुख्यतः जमींदार था। बंगाल में तथा बाहर भी उनकी जायदाद थी। पर द्वारकानाथ अन्य जमींदारों की तरह जमींदारी पर निर्भर तथा संतुष्ट होकर शहरों में विलास करते हुए नहीं रहना चाहते थे। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी कर ली और अपने अध्यवसाय एवं बुद्धिमत्ता के जरिये उस कंपनी के वरिष्ठ पद पर पहुँच गये। चौबीस-परगना ज़िले के कलक्टर के तहत वे दीवान और सॉल्ट-एजेंट बन गये। नौकरी में वे और भी ऊँचे पद पर पहुँचते, लेकिन नई शुरुआतों तथा काम से अपने लगाव के कारण वे किसी एक ढर्रे में पराश्रित जीवन नहीं बिता सकते थे। छह वर्ष बाद नौकरी छोड़कर उन्होंने कुछ लोगों के साथ एक नई कंपनी 'कार, टैगोर ऐंड कं०' खोल ली। कई स्थानों पर उन्होंने रेशम की बुनाई शुरू कराई, चीनी के कारखाने लगाये, रानीगंज क्षेत्र में कोयला खानें खरीदीं, और नमक, शीरा, कोयला इत्यादि का बड़े पैमाने पर व्यापार किया। इस तरह उन्होंने अपार धन कमाया और बंगाल तथा उड़ीसा में दूर-दूर तक नई ज़मींदारियाँ खरीदीं। उन्होंने बैंक भी खोले—'यूनियन बैंक' कलकत्ता में पहला बैंक था जिसकी व्यवस्था बंगाली लोगों के हाथ में थी।

लेकिन ये सब कार्य उनकी उपलब्धियों के अंशमात्र हैं। कलकत्ता नगर में अपनी संपत्ति तथा प्रतिष्ठा से उन्हें जो ज़बरदस्त सामाजिक रोब-दाब हासिल हुआ था, उसका उन्होंने सदुपयोग किया। परोपकार और दान-दक्षिणा में उनका कोई सानी नहीं था। विचारों से उदार और राजा राममोहन राय के प्रशंसक मित्र होने के नाते उन्होंने बंगाली समाज में राजा द्वारा सुझाये गये हर सुधार के लिए खुले हाथों आर्थिक सहायता दी। सती-प्रथा की समाप्ति, बंगाल में अंग्रेजी

शिक्षा की शुरुआत, स्थानीय भाषा में समाचारपत्रों के अधिकारों का संरक्षण, वेदांत के सिद्धांतों पर स्थापित ब्रह्म सभा का संरक्षण, और ऐसे अन्य अनेक सुधारों को प्रोत्साहन जो राममोहन ने शुरू किये थे, उन्हें द्वारकानाथ ने भरपूर नैतिक एवं आर्थिक सहयोग दिया। संक्षेप में द्वारकानाथ अपने युग में समाज में एक प्रबल शक्ति थे। उदार बुर्ज्वा वर्ग के एक प्रबुद्ध सदस्य के रूप में उन्होंने अपनी उस शक्ति का प्रयोग हमेशा उन ध्येयों के लिए किया जिससे जड़ता खत्म हो और नये चिंतन के अनुरूप समाज आगे बढ़े।

द्वारकानाथ शौकीन तबीयत के थे। यूरोपीय लोगों से उनका खूब मेल-जोल था, और नगर के उत्तरी सिरे पर बसे अपने सजे-धजे ऐशबाग 'बेलगाछिया विला' में बड़ी-बड़ी दावतें दिया करते थे। व्यापार चलाने के लिए इस तरह का महँगा विलास आवश्यक था, हालाँकि घर में वे एक सात्त्विक वैष्णव के रूप में रहते थे, पर रीति-रिवाज को दकियानूसी तरीके से मानने का कोई प्रश्न न था। उन दिनों विलायत जाना वर्जित था, पर वे दो बार समुद्र पार कर इंग्लैंड गए। वहाँ भी वे शाही ठाठ से रहे। वस्तुतः उनको 'प्रिंस' की उपाधि इंग्लैंड में उनके शाही रहन-सहन के कारण ही मिली। इंग्लैंड में ही १ अगस्त, १८४६ को उनकी मृत्यु हुई।

द्वारकानाथ के जीवन की यह संक्षिप्त रूपरेखा इसलिए दी गई है कि इससे उस परिवेश का कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है जिसमें उनका पुत्र जन्मा और बड़ा हुआ। वैभव की गोद में जन्मे देवेन्द्रनाथ ने एक नगर-केन्द्रित संपन्न परिवार के ऐशो-आराम में अपना बचपन तथा लड़कपन बिताया था। शायद ही उन्हें किसी चीज की कमी रही, कठिनाई तो नहीं ही थी। उनकी युवावस्था वैभव और समृद्धि में बीती। उन्होंने स्वयं 'आत्मजीवनी' में लिखा है कि यौवन में कुछ भूलें और ज्यादतियाँ करने से वे नहीं बच सके।

देवेन्द्रनाथ को अपनी दादी से बहुत प्यार था। वे बहुत धार्मिक स्वभाव की महिला थीं जो सारे वर्ष तरह-तरह के धार्मिक उत्सव-त्योहारों के आयोजन में मग्न रहती थीं। उनके धार्मिक कृत्यों के दौरान देवेन्द्रनाथ छाया की तरह दादी के पीछे-पीछे घूमते रहते और इस तरह बचपन से ही उनके मन में पूजा-आराधना के प्रति गहरा लगाव पैदा हो गया, हालाँकि यह पूजापाठ मूर्तिपूजा से जुड़ा होता था।

पर दो चीजों ने उनके जीवन की दिशा बदल दी। चौदह वर्ष की आयु में एक रात वे तारों भरे आकाश को देख रहे थे और उन्हें सृष्टि के अनूठेपन पर रोमांच हो रहा था। अचानक उन्हें अहसास हुआ कि "इस असीम आकाश और निस्सीम ब्रह्मांड की रचना कोई सीमाबद्ध जीव नहीं कर सकता!" यह अहसास लगातार बना रहा और 'शालिग्रामशिला' समेत विभिन्न सीमित देवी-देवताओं

की प्रतीक मूर्तियों की पूजा छोड़ने के विचार का आरम्भ तभी से हुआ। (ब्रह्मो समाज ऑफ इंडिया द्वारा प्रस्तुत स्वागत-भाषण का उत्तर)। दूसरी घटना ७ वर्ष बाद हुई, उनकी दादी की मृत्यु के समय। उन दिनों प्रथा थी कि जब कोई वृद्ध स्त्री या पुरुष मरणासन्न हो तो उसका शरीर गंगा तट पर रख दिया जाता था—मृत्यु होने तक। इसे 'अंतर्जली' कहा जाता था, जो मृत्यु के योग्य होने के लिए एक प्रकार का संस्कार था। उनकी दादी का शरीर भी ले जाया गया। तब तक वे मरी नहीं थीं। उनकी मृत्यु के पूर्व की रात देवेन्द्रनाथ श्मशानघाट में नदी के किनारे अपनी दादी के पास एक मोटी-सी चटाई पर अधलेटे बैठे थे। अचानक उन्हें आनंद और उदासीनता की मिली-जुली अनुभूति हुई जिसने संसार के बारे में उनकी सारी धारणा क्षण-भर में बदल दी। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है। "इस बीच मुझमें अजीब-सी उदासीनता छा गयी। अब मैं वह नहीं रहा जो पहले था। मेरे भीतर संपत्ति के प्रति गहरी वितृष्णा पैदा हो गयी। जिस मोटी-सी चटाई पर मैं बैठा था, वही मुझे अपना उपयुक्त स्थान प्रतीत हुआ; कालीन और दरियाँ इत्यादि घृणित लगने लगीं। मेरे मन में एक अभूतपूर्व आनंद छा गया।" वह वर्ष था १८३८ और देवेन्द्रनाथ तब २१ वर्ष के थे।

किन्तु यह आनंदानुभूति अधिक दिन नहीं रही। उसी रात वह खो गयी। तब से वे लगातार उस अनुभूति को पुनः पाने की निष्फल चेष्टा करने लगे। वे जितना अधिक यत्न करते, वह उतनी ही अप्राप्य होती जाती, फलतः गहरा अवसाद और निराशा उन्हें हाथ लगती। यह दशा असह्य थी। संसार के सभी सुख उनके लिए निरर्थक हो गए। कई दिनों तक वे दिन-दिन भर दोपहर में 'ईडन-गार्डन' के स्मारक-स्तंभ के पास एकांत में, विचारमग्न बैठे रहते। पर हाय! वह दिव्य आनंद किसी साम्राज्य को न्यौछावर करने पर भी हाथ न आता। देवेन्द्रनाथ अपनी इस मनोदशा का साम्य नारद में देखते हैं जिसका आख्यान उन्होंने 'भागवत' की एक कथा में किया है: भगवान् भक्त के जीवन में क्षणमात्र के लिए आते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं ताकि भक्त की ईश्वर-अनुरक्ति बढ़ जाए और उसे आत्मशोध के असंख्य अवसर मिल सकें।

उक्त दो घटनाओं से स्पष्ट होगा कि देवेन्द्रनाथ की आत्मा जागृत हो चुकी थी तथा वे शनैः-शनैः एक आध्यात्मिक अधिवास की ओर बढ़ रहे थे जो भविष्य में उनका स्थायी निवास-स्थान बनने वाला था। बीज तैयार हो चुका था और एक विकसित आध्यात्मिक जीवन के अंकुर निकलने लगे थे।

इस बीच हम बालक एवं युवक देवेन्द्रनाथ को प्राप्त हुए शिक्षण पर भी दृष्टि डालें। उन दिनों कलकत्ता के धनी-मानी लोग अपने बच्चों को हिन्दू कॉलिज में पढ़ने के लिए भेजते थे, जिसकी स्थापना कुछ ही वर्ष पहले अंग्रेजी में शिक्षा देने के लिए हुई थी। जब देवेन्द्रनाथ ९ या १० वर्ष के थे, हिन्दू कॉलिज में 'युवा

बंगाल' युवकों की धूम थी जिन्होंने अपने ऐंग्लो-इंडियन शिक्षक हेनरी विवियन लुई डेरोज़ियो से पाश्चात्य बुद्धिवादी शिक्षा से लगाव और भारतीय परंपरागत शिक्षा के प्रति—उसके धर्मचिंतन और पुराकथाओं के प्रति भी—उतनी ही तेज वितृष्णा अर्जित कर ली थी। डेरोज़ियोवादी युवक छात्रों के रूप में बहुत योग्य, कभी-कभी अत्यंत प्रतिभाशाली होते हुए भी तत्कालीन ईश्वरहीन शिक्षण में दीक्षित थे, और पौर्वात्य चिंतन की छाया तक का छिद्रान्वेषण करना उनका शौक़ हो गया था। शराब और गोमांस उन्हें अपने पूर्वजों की भर्त्सना के लिए स्थायी उपकरण लगते थे। तत्कालीन एक आलोचक के अनुसार वे कट्टरपंथी हिन्दुओं को बदनाम करने के लिए "सूअर और गाय के मांस में होकर गुजरते और बीअर के गिलासों में तैरकर उदारवाद की मंज़िल तय करते थे।"

शायद हिन्दू कॉलिज की शिक्षा के इस पक्ष को देखकर ही द्वारकानाथ ने अपने बेटे को हिन्दू कॉलिज न भेजकर कलकत्ता के दक्षिण-पूर्व में स्थिति हेड़आ के ऐंग्लो-हिन्दू स्कूल में भेजा। यह उन्होंने उसके संस्थापक राममोहन के कहने पर किया, जिसका संचालन वे द्वारकानाथ तथा अन्य मित्रों से प्राप्त आर्थिक सहायता से करते थे। देवेन्द्रनाथ ने इस स्कूल में चार-एक वर्ष शिक्षा पायी। पढ़ाई और नियमित उपस्थिति के लिए उन्हें पुरस्कार मिले। संभवतः १८३१ के मध्य में उन्होंने ऐंग्लो-हिन्दू स्कूल छोड़ा और हिन्दू कॉलिज में दाखिल हुए। कारण यह रहा हो कि डेरोज़ियो को शिक्षक पद से हटाकर प्रबंधकों का नया मंडल वहाँ गठित हो चुका था। देवेन्द्रनाथ ने हिन्दू कॉलिज में तीन-एक वर्ष पढ़ाई की। संस्था की परंपरा के विरुद्ध वे अपने कॉलिज से अपने धर्म के कट्टर समर्थक, देशभक्त और बाङ्ला भाषा के अनुरागी बनकर निकले। हिन्दू कॉलिज के वातावरण का उनके मानसिक जीवन पर बहुत कम असर हुआ, हालाँकि वहाँ की शिक्षा में जो कुछ उत्कृष्टतम था उसे उन्होंने पूरी तरह आत्मसात् किया।

देवेन्द्रनाथ ने अपनी मातृभाषा के प्रति अपने अनुराग को ठोस रूप देने का संकल्प कर लिया। डेरोज़ियोवादी एक संस्था 'एकेडेमिक एसोसिएशन' चलाते थे जिसमें वे राजनीति, दर्शन, धर्म और समाजशास्त्र इत्यादि पर अंग्रेज़ी में बहसें करते थे। डेरोज़ियोवादियों के प्रत्युत्तर में देवेन्द्रनाथ ने 'सर्वतत्त्वदीपिका सभा' नाम से एक संस्था शुरू कराई जिसमें सारी कार्रवाई बाङ्ला भाषा में होती थी। उनका उद्देश्य अस्वस्थ प्रतिद्वंद्विता नहीं, बल्कि बाङ्ला भाषा हर तरह के बौद्धिक संवाद चलाने में समर्थ भाषा है यह मान्यता दिलाना था।

इन्हीं दिनों उन्होंने गंभीरता से संस्कृत सीखी और शास्त्रीय संगीत का भी अभ्यास किया। कुछ समय बाद उन्होंने संगीत सीखना तो छोड़ दिया पर संस्कृत अध्ययन जारी रखा। इन्हीं दिनों उन्होंने बाङ्ला में संस्कृत व्याकरण भी लिखी थी। साहित्यिक रचनाओं में उनके आरंभिक प्रयत्न इसी समय शुरू हुए जिसमें

उन्हें शीघ्र ही दक्षता प्राप्त हो गई।

यह वह समय था जब वे हिन्दू कॉलिज छोड़ चुके थे और धार्मिक अंतर्ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति अभी शेष थी। अभी तक वे धार्मिक सुधारक नहीं बने थे जो कि आगे चलकर उनका मुख्य कर्मक्षेत्र बनने वाला था। पर उस समय भी उनके व्यक्तित्व की भावी दिशा के स्पष्ट चिह्न देखे जा सकते थे। परिवार के सबसे बड़े पुत्र होने के नाते उन्हें ज़मीन-जायदाद और पिता के बहुमुखी व्यवसाय में रुचि लेनी चाहिए थी, पर ऐसे कार्यों के प्रति उनके मन में अधिक उत्साह नहीं था। इसके बजाय वे अपना समय मौन अध्ययन एवं एकांत चिंतन में लगाना अधिक पसंद करते थे, सांसारिक मामलों में यदि वितृष्णा नहीं तो विरक्ति अवश्य दीखती थी, और यथासंभव वे उनसे दूर रहने की कोशिश करते थे। पिता के आदेश पर उन्हें अपने घर तथा 'बेलगाछिया विला' में यूरोपीय एवं भारतीय सम्मानित अतिथियों के स्वागत-सत्कार में शामिल होना पड़ता था, पर इन सामाजिक समारोहों में उनका जी नहीं रमता था क्योंकि ये उन्हें फ़िज़ूलख़र्च प्रदर्शन मात्र लगते थे। देवेन्द्रनाथ का विवाह कम आयु में हो चुका था और तब तक उनके एक-दो बच्चे भी हो चुके थे, पर वैवाहिक जीवन के बंधन भी उन्हें सांसारिक जीवन से नहीं बाँध सके। वह परिवार में रहते हुए भी उससे बहुत परे थे।

द्वारकानाथ को अपने पुत्र की सांसारिक मामलों से विरक्ति रुचिकर नहीं लगी। उनकी उदासीनता तोड़ने के लिए पिता ने देवेन्द्रनाथ को यूनियन बैंक में खजांची अपने चाचा रामनाथ ठाकुर के तहत सहायक खजांची के काम पर लगा दिया। उन्होंने आदेश का पालन किया और कुछ समय तो ऐसा लगा मानो वे इसी तरह के काम के लिए बने हैं तथा इसके अलावा अन्य किसी वस्तु में उनकी रुचि नहीं है। वह नियमतः ठीक दस बजे दफ़्तर जाते और शाम को खजाने में रोकड़ जमा करने से पहले घर न लौटते। बहरहाल, यूनियन बैंक के कार्यालय में हिसाब-किताब रखने के अनुभव का उन्हें आगे अपने जीवन में बहुत लाभ मिला।

इसी दौरान एक घटना हो गई जो उनके जीवन में निर्णायक मोड़ ले आयी। ऊपरी तौर पर यह छोटी-मोटी घटना मालूम होती थी पर उनके मस्तिष्क पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा तथा तभी से उनके जीवन की दिशा बदल गई।

एक दिन देवेन्द्रनाथ आदतन विचारों में खोए हुए बैठे थे कि अचानक पुस्तक का एक पन्ना उड़ता हुआ कमरे में आ गया। कुतूहलवश उन्होंने उसे उठा लिया और पढ़ने लगे। उस पन्ने पर एक संस्कृत श्लोक लिखा था जिसका अर्थ वे नहीं समझ सके। श्लोक इस प्रकार था :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

देवेन्द्रनाथ ने अपने पारिवारिक पंडित को बुला भेजा पर वह भी उसका

अर्थ न कर सका। वह केवल इतना बता पाया कि इसका संबंध ब्रह्म से है, तथा संभवतः पंडित रामचंद्र विद्यावागीश, जो कि ब्रह्म सभा (१८८२ में स्व० राममोहन द्वारा एकेश्वरवादी आराधना के लिए स्थापित संस्था) के उपदेशक हैं, इसका वास्तविक अर्थ बता सकेंगे। विद्यावागीश आये और उन्होंने बताया कि यह ईशोपनिषद् का पहला श्लोक है जिसका अर्थ है : 'यह चराचर विश्व ब्रह्ममय जानो। त्याग के पथ से ही प्रत्येक वस्तु प्राप्त करो। अन्य किसी के धन पर गिद्ध-दृष्टि न डालो।' विद्यावागीश ने आगे बताया कि वह पन्ना राममोहन द्वारा संपादित 'ईशोपनिषद्' के संस्करण का है जो घर में रखा है।

उस श्लोक के काव्यात्मक उदात्त भावों से देवेन्द्रनाथ अत्यंत विचलित हो गए। उन्हें अपने भावी जीवन की आकृति का उसमें दर्शन हुआ। हठात् उन्हें लगा कि ईश्वर अदृश्य रूप से उनके भावी कार्यक्रम का सुझाव दे रहा है। उन्हें लज्जा का अनुभव हुआ कि अब तक उन्होंने 'ईशोपनिषद्' नहीं पढ़ा था। इस कारण ज्ञान के एक अगाध भंडार से वे वंचित रहे आए थे। उन्होंने उपनिषदों के गहन अध्ययन का निश्चय कर लिया तथा विद्यावागीश से नियमित रूप से पढ़ने लगे।

इस श्लोक का देवेन्द्रनाथ के संवेदनशील मन पर कितना गहरा प्रभाव हुआ था इसकी कल्पना उनकी आत्मकथा के इन शब्दों से की जा सकती है : "अभी तक मुझे संसार से कोई आसक्ति नहीं थी, न ही मैं दिव्य आनंद को भोग पा रहा था। पर जब इस ब्रह्म वाक्य ने मुझसे कहा कि सारे सांसारिक सुख छोड़कर ब्रह्म का आनंद लो, तो मुझे मनचाहा मिल गया और मेरा मन परम आनंद में सराबोर हो गया। यह बात मैं सोचकर नहीं कह रहा; यह ब्रह्म का आदेश था। कितना पुण्यवान होगा वह ऋषि जिसे पहले-पहल इस ज्ञान का बोध हुआ था। मुझे ईश्वर में पक्की निष्ठा हो गयी। सांसारिक सुखों की बनिस्बत मैं ब्रह्म से तादात्म्य का अमृतपान करने लगा। आह, मेरे लिए यह कितने बड़े सौभाग्य का दिन था, मुझे कितना आनंद मिला !" (अध्याय ५)

यह उन्होंने स्वयं कहा है। बाद में उनके पुत्र रवीन्द्रनाथ ने भी अपने पिता के बारे में अनेक स्थानों पर बोलते हुए इस श्लोक का उल्लेख किया। इस अकेले श्लोक ने उनके पिता के जीवन में काया-कल्प कर दिया था। उन्होंने कहा : "हज़ारों साल पहले जिस ऋषि ने इस श्लोक को उच्चारित किया होगा उसे पता न होगा कि सुदूर भविष्य में उसकी यह उक्ति एक पुस्तक के फटे पन्ने के रूप में सनातन संपत्ति का संदेश लेकर उड़ती हुई एक धनी आदमी के बेटे के पास पहुँचेगी जो अंग्रेजों की राजधानी में वैभव-विलास में पल रहा होगा, उस विस्मृत वनवासी, वल्कलधारी ऋषि के इन शब्दों में कैसी अद्भुत शक्ति थी कि उसने यौवन और समृद्धि के सम्मोहन-जाल को भेदकर ज्ञानचक्षु खोल दिए।" (महर्षि देवेन्द्रनाथ : रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विश्व भारती)।

धर्म के पथ पर

जब राजा राममोहन राय का निधन हुआ (ब्रिस्टल, इंग्लैंड, में २७ सितंबर, १८३३), देवेन्द्रनाथ सिर्फ सोलह वर्ष के बालक थे। उस समय उन्हें इसका भान नहीं हो सकता था कि एक दिन राजा का छत्र उनके सिर पर होगा और राजा राममोहन द्वारा संस्थापित ब्रह्मो मंदिर के विचारों तथा आदर्शों को उन्हें ही अधिक गतिशील एवं व्यापक तरीके से आगे बढ़ाना होगा जो कि राजा अपनी अकाल मृत्यु के कारण नहीं कर पाये। यह कैसे तथा किन परिस्थितियों में हुआ, इसका विवेचन इस अध्याय में किया जाएगा।

बचपन से ही देवेन्द्रनाथ ने राममोहन को बहुत नज़दीक से देखा और जाना था। राममोहन द्वारकानाथ के घर अक्सर आया करते थे तथा इस बालक के बारे में पूछा करते थे जिससे उन्हें अमित स्नेह था। देवेन्द्रनाथ के मन में भी राजा के प्रति अबाध्य आकर्षण था। महर्षि ने अपने एक संस्मरण में (नगेन्द्रनाथ चटर्जी रचित 'राजा राममोहन रायेर जीवनचरित', चतुर्थ संस्करण) कहा कि देवेन्द्रनाथ नामक एक लड़का प्रायः राममोहन की गाड़ी में उनके साथ खुली हवा में सैर पर जाया करता था। इन यात्राओं में दोनों के बीच शायद ही कभी बातचीत होती। देवेन्द्रनाथ राममोहन के सुंदर मुख तथा राजकीय गरिमा को निहारा करते। युवा मन पर उस मुखाकृति का गहरा जादू होता जान पड़ा। "मैं निरंतर उस पर सोचता रहता। मेरा हृदय एक गहन और गूढ़ भावना से भर जाता। स्पष्टतः राजा के साथ मेरा कोई अकथनीय संबंध था। मैं उनकी तरफ बरबस खिंचा चला जाता।"

देवेन्द्रनाथ, और राममोहन के छोटे पुत्र रामप्रसाद राय ऐंग्लो-हिन्दू स्कूल में सहपाठी थे। स्कूल छूटने पर दोनों बच्चे राममोहन को नमस्कार करने उनके घर माणिकतल्ला जाया करते। राजा अनेक प्रकार से इस बालक पर अपना स्नेह प्रकट करते। अपने युवा अतिथि के लिए वे बगीचे से फल तुड़वाकर मँगवाते। कहा जाता है कि इंग्लैंड जाते समय द्वारकानाथ से विदा लेने गये राममोहन जोड़ासाँको भवन से देवेन्द्रनाथ से मिले बिना नहीं जाना चाहते थे। बालक को बुलाया गया तब राजा राममोहन ने उत्साह से उससे हाथ मिलाया और आशीर्वाद दिया। राममोहन इंग्लैंड से वापस नहीं लौट पाये, पर लगता है कि विदा के समय दोनों के बीच एक अदृश्य-सा समझौता हो गया था, और मानो वही भविष्य में उनके स्थायी आत्मिक मिलन का कारण बना। देवेन्द्रनाथ का

संपूर्ण जीवन उनके वास्तविक गोकि अनौपचारिक गुरु राममोहन की शिक्षाओं पर आधारित था तथा उसी से अनुप्राणित रहा। गुरु ने सभी तरह के धर्मावलंबियों के लिए एक निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासनार्थ जिस 'ब्रह्म सभा' की स्थापना की थी, उसका अधूरा कार्य शिष्य ने पूरा किया।

राजा के निधन के बाद ब्रह्म सभा संकट में पड़ गई। धीरे-धीरे सभा में आने वाले उपासकों की संख्या घटने लगी। वस्तुतः किसी को सभा के अस्तित्व का भी पता न चलता यदि रामचंद्र विद्यावागीश ने एकांतनिष्ठा के साथ, आरंभ से ही आचार्य के रूप में उसका रख-रखाव जारी न रखा होता। तमाम कठिनाइयों और समस्याओं के बावजूद, नये धर्म में अपनी निष्ठा तथा कर्त्तव्य-बोध के कारण उन्होंने मशाल जलाए रखी। सभा का खर्च द्वारकानाथ द्वारा दिए जाने वाले ८० रुपये के मासिक दान से चलता था।

उपनिषदों से महर्षि के पहले साक्षात्कार की घटना १८३५-३६ के आसपास हुई थी। ऐतिह्य क्रम में यह उनकी दादी की मृत्यु, १८३८, से पहले हुई थी। पर दोनों घटनाएँ ऐसी गुँथ गई हैं कि एक को दूसरे से विलग करना कठिन है, जिसके बाद कि उन्होंने रूढ़िगत मूर्ति-पूजा छोड़कर निर्गुण-उपासना का मार्ग अपनाया था। उस समय के बाद जहाँ तक उनके धार्मिक विचारों का प्रश्न है, उनका वस्तुतः कायाकल्प हो गया था।

उपनिषदों की दीक्षा के बाद उनका मस्तिष्क ज्यों-ज्यों प्रबुद्ध होता गया, औपनिषदिक सत्य के प्रचार की आंतरिक प्रेरणा भी बलवती होती गई। उन्होंने अपने भाई-बहनों तथा कुछ मित्रों-रिश्तेदारों को बुलाया और औपनिषदिक प्रकाश के प्रसारार्थ एक संस्था गठित की। अपने घर में तालाब के पास का एक कमरा, जो खाली पड़ा था, इस हेतु साफ कराया और एक दिन जब दुर्गापूजा उत्सव निकट था तथा उनके अपने घर में दुर्गापूजा की तैयारी हो रही थी, देवेन्द्रनाथ अपने अनुयायियों के साथ उस कमरे में एकत्र हुए तथा वेदांत के एकेश्वरवादी सिद्धांतों के अनुरूप परमब्रह्म की आराधना आरंभ कर दी। अपने उस पहले धार्मिक प्रवचन में उन्होंने उस सभा का प्रयोजन समझाया। 'तत्त्वबोधिनी सभा' का इस प्रकार शुभारंभ हो चुका था। प्रति माह पहले रविवार की शाम सभा आयोजित करना तय हुआ। आरंभ में इसका नाम 'तत्त्वरंजिनी सभा' था। दूसरे प्रार्थना-सम्मिलन में रामचंद्र विद्यावागीश आमंत्रित किये गये, जिन्होंने 'तत्त्वबोधिनी सभा' नाम रखने का सुझाव दिया। देवेन्द्रनाथ ने विद्यावागीश को ६ अक्टूबर, १६३६ को जन्मी इस नई संस्था का आचार्य नियुक्त किया।

परवर्ती घटनाओं ने प्रमाणित किया कि पिछली सदी के पाँचवें और छठे दशक में बंगाल के सांस्कृतिक इतिहास में यह सभा अत्यंत महत्त्व की भूमिका निभाने जा रही थी। यद्यपि वेदांती एकेश्वरवादी चिंतन का प्रचार इसका मुख्य

उद्देश्य था (हम देखेंगे कि कुछ वर्ष बाद सभी अपनी इस मूल प्रस्थापना से डिग गई थी) पर इसकी गतिविधियाँ अनेक क्षेत्रों में फैलीं, जिस कारण उस समय के बंगाल के कुछ प्रमुख लोग, यथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर, अक्षयकुमार दत्त, राजेन्द्रलाल मित्र, भूदेव मुखर्जी, रामगोपाल घोष, डॉ०दुर्गाचरण बनर्जी, शंभुनाथ पंडित, राजनारायण बोस प्रभृति उस सभा के किसी न किसी समाज कल्याण कार्यक्रम में सदस्य या सहयोगी के रूप में आकृष्ट हुए थे। इन कार्यक्रमों में एक पत्रिका की स्थापना, बालकों को अंग्रेजी तथा विज्ञान के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा देने के लिए स्कूल खोलना, वेदों का अध्ययन पुनः आरंभ कराना और उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों का अनुवाद कराना प्रमुख रूप से शामिल था। देवेन्द्रनाथ स्पष्टतः इस सारे संगठन की आत्मा थे। समस्त गतिविधियों को वे न केवल प्रेरणा देते थे, और उनकी देख-रेख करते थे बल्कि धन भी मुख्यतः वे ही प्रदान करते थे।

बंगाल के तत्कालीन अंग्रेजी-शिक्षित वर्गों पर 'तत्त्वबोधिनी सभा' का पर्याप्त प्रभाव हुआ। १८३६ के बाद पहले चार वर्षों में इसकी सदस्य संख्या क्रमशः १०५, ११५, ८३ और १३८ थी। छठे वर्ष के बाद से सदस्यता क्रमशः बढ़ती गई और एक समय वह ८०० तक जा पहुँची। ज्ञान और शिक्षा के प्रसार में सभा का योगदान अकूत है। उन्नीसवीं सदी के बंगाल के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में इसकी भूमिका का अलग और विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ; राममोहन की मृत्यु के बाद से ब्रह्मसभा का हाल बुरा था। 'तत्त्वबोधिनी सभा' के कार्य-संचालन के दौरान देवेन्द्रनाथ को उस अवरुद्ध संस्था को पुनर्जीवित करने तथा त० स० के तहत उसे लाने का विचार आया। आरंभ के लिए उन्होंने ब्रह्मसभा के उन सभी अनुयायियों को एकत्र करना तय किया जो एक निर्गुण, सनातन तथा नित्य ब्रह्म के वास्तविक उपासक थे। किसी नये संप्रदाय की स्थापना के उद्देश्य से नहीं, बल्कि आराधना में एकत्र होने वालों की निष्ठा की परीक्षा के तौर पर उन्होंने यह सोचा था। इस क्षेत्र में उन्होंने स्वयं मार्ग दिखाया। २१ दिसम्बर, १८४३ (बंगाली संवत् के पौष मास की सप्तमी, जिस दिन आज तक शांतिनिकेतन में उस घटना की याद में बड़ा समारोह होता है) को देवेन्द्रनाथ ने अपने अन्य बीस साथियों समेत आचार्य रामचंद्र विद्यावागीश से ब्रह्मो में धर्म विधिवत् दीक्षा ली। इन बीस लोगों में उनके अनुज गिरीन्द्रनाथ, पारिवारिक पंडित श्यामाचरण भट्टाचार्य, रमाप्रसाद राय, अक्षयकुमार दत्त, हरदेव चटर्जी और लाला हजारीलाल शामिल थे। इस प्रकार ब्रह्मो समाज की एक धुरी बन गयी जिसका विस्तार एक विशद आंदोलन में हुआ, और जिसके अंतर्गत धार्मिक, सांस्कृतिक, तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की धारा बंगाली समाज में चली, खासकर उस सदी के उत्तरार्ध में।

अपनी धार्मिक दीक्षा से भी पहले देवेन्द्रनाथ एक पत्रिका निकालने का विचार कर चुके थे जिसमें उनके धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाता, तत्त्वबोधिनी सभा की गतिविधि नियमित रूप से प्रकाशित होती, मूलतः आध्यात्मिक किन्तु अन्य सार्वजनिक हित के विषयों का भी विवेचन होता, और ज्ञान की विविध शाखाओं के अनुशीलन, वेद-उपनिषदों के अनुवाद इत्यादि की व्यवस्था हो पाती। उन्होंने तत्त्वबोधिनी सभा के अनेक सदस्यों की रचनाओं की जाँच की और पाया कि अक्षयकुमार दत्त ही उनकी कल्पना के पत्र के संपादक होने योग्य हैं। और, अगस्त १८४३ के तीसरे सप्ताह के आस-पास 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' का श्रीगणेश हो गया।

अक्षयकुमार बहुत ही उपयुक्त संपादक सिद्ध हुए। यद्यपि उनके तथा देवेन्द्रनाथ के दृष्टिकोणों में भारी अंतर था—आस्तिक होते हुए भी वे नितांत बुद्धिवादी थे, और निश्चित प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु की सत्यता को न मानते, पर वे बहुत कुशल गद्यकार थे और बाङ्ला गद्य के निर्माणकाल में वे एक सशक्ततम प्रभाव साबित हुए। हर तरह के वैज्ञानिक अध्ययन में उनकी गहरी रुचि थी तथा सिर्फ अध्ययन के लिए एक बार उन्होंने चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा भी ली। जॉर्ज कूम्ब की 'कांस्टीट्यूशन ऑफ़ मैन' की तर्ज पर उन्होंने बाङ्ला में 'बाह्य वस्तुर सहित मानव प्रकृतिर संबंध विचार' नामक पुस्तक, तथा एच० एफ० बिल्सन की 'द रिलीजस सेक्ट्स ऑफ इंडिया' के नमूने पर दो खंड लिखे थे। इनके अलावा उन्होंने अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखीं जो उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुईं। अक्षयकुमार ने १८४३ से १८५५ तक, 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' का बारह वर्ष संवादन किया।

पत्रिका का संपादक मंडल था जिसके अध्यक्ष देवेन्द्रनाथ तथा सचिव अक्षयकुमार थे। प्रकाशन से पहले सभी लेख इस समिति के सामने रखे जाते थे। आरम्भिक वर्षों में इन समिति के सदस्यों में विद्यासागर और राजेन्द्रलाल मित्र भी थे। यह प्रमाणित तथ्य है कि पत्रिका में क्या पठनीय सामग्री जाए, इसके बारे में देवेन्द्रनाथ का समिति के सदस्यों से, खासकर अक्षयकुमार से, मतभेद रहता था। गहन धार्मिक व्यक्ति के नाते देवेन्द्रनाथ धार्मिक विषयों को प्राधान्य देना चाहते थे, जबकि अन्य सदस्य विज्ञान, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र और राजनीति तक का मिश्रण उसमें रखना चाहते थे। शिक्षा में स्वावलंबन, स्त्रीशिक्षा, संयम, ईसाई मिशनरियों के प्रहार से धर्मरक्षा, निलहे मजदूरों के उत्पीड़न की रोकथाम, व्यायाम की आवश्यकता, शासक-शासित संबंध, समाजसुधार इत्यादि सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर विचार-विनिमय होता था।

स्वयं धर्म के बारे में बहस छिड़ जाती थी। अक्षयकुमार तथा समिति के उनके-जैसे मतवाले सदस्य वेदों को अपौरुषेय या अमोघ मानने को तैयार न थे,

जब कि देवेन्द्रनाथ तब तक इसके कट्टर हामी हुआ करते थे। हम देखेंगे कि यह बहस आगे चलकर ब्रह्मो समाज में प्रबल तर्क-वितर्क का कारण बनी, और अंततः ब्रह्मो धर्म की मूल प्रस्थापना में परिवर्तन आया। देवेन्द्रनाथ ने जब अपने विरोधी मत की तार्किकता को पहचाना तो उसे अपना लिया, पर इस परिवर्तन तक पहुँचने में उन्होंने गहरा आत्मविश्लेषण किया तथा वेदों और उपनिषदों के आधारों का गहन पुनरीक्षण किया। अपने दीर्घकालीन प्रिय विश्वासों को छोड़कर वे इस खास मामले में विपक्ष के मत को स्वीकार करने में समर्थ रहे, इससे उनके सत्य-प्रेम और गहनान्वेषी मस्तिष्क का प्रमाण मिलता है। कभी-कभी कहा जाता है कि महर्षि स्वभावतः अनुदारवादी थे। यह आरोप उनकी कुछ सामाजिक मान्यताओं के बारे में सही हो सकता है। पर जहाँ तक धार्मिक मान्यताओं का प्रश्न है, यह आरोप निश्चय ही गलत है। यदि ऐसा न होता तो वे वर्षों तक वेदों और उपनिषदों के बारे में जो मान्यता रखते रहे, उसे कभी न छोड़ पाते।

ब्रह्मो धर्म में बीस सहयोगियों समेत दीक्षा लेने और तदुपरांत ब्रह्म समाज का विधिवत् उद्घाटन होने के बाद देवेद्रनाथ विविध गतिविधियों में रम गये। वे १८४० में ही तत्त्वबोधिनी पाठशालाएँ खोल चुके थे—पहली कलकत्ता में (जो बाद में हुगली जिले के एक गाँव बाँसबेरिया में स्थानांतरित कर दी गयी) और अन्य चौबीस परगना तथा नदिया जिलों के अनेक स्थानों पर। इन सबका प्रबंध तत्त्वबोधिनी सभा द्वारा होता था। उद्देश्य था लड़कों को सामान्य शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी देना। महर्षि के आर्थिक सहयोग से ये पाठशालाएँ चलती थीं। तत्त्वबोधिनी पत्रिका १८४३ के आठवें महीने में शुरू हो चुकी थी। अब उन्होंने वेदों का गहनतर अध्ययन करने पर ध्यान दिया तथा इस हेतु अपने खर्च पर युवा विद्वानों को एक वेद का विशद अध्ययन करने के लिए बनारस भेजा इन्हीं में से एक विद्यार्थी आनंदचंद्र वेदांतवागीश जिन्होंने ऋग्वेद का अध्ययन किया था, ब्राह्म समाज के आचार्य बने तथा वेदांत और गीता के भाष्यकार के रूप में एवं बिब्लियोथेका इंडिका नामक सीरीज में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित 'श्रौत' एवं 'गृह्यसूत्र' के संकलक-संपादक के रूप में विख्यात हुए।

जब से चार युवा छात्र बनारस में अध्ययन कर रहे थे, देवेन्द्रनाथ उनके अध्ययन की जाँच-पड़ताल के लिए स्वयं बनारस गए, जहाँ उन्होंने वैदिक विद्वानों से वैदिक ज्ञान पर तत्त्व-विमर्श भी किया। इस विशेष विषय में उनकी जानकारी काफी बढ़ी, लेकिन काशी में पंडितों द्वारा अपने प्रश्नों के उत्तर से वे पूर्णतः संतुष्ट नहीं थे।

इंग्लैंड के स्कॉटिश मिशन ने रेवरेंड अक्जेंडर डफ नामक प्रभावशाली पादरी को १८३० में कलकत्ता में प्रचारार्थ भेजा था। वह इस देश में ३३ वर्षों तक रहे और अपनी धर्म-प्रचार की गतिविधियों के दौरान भारतीय लड़कों को

मुफ्त अंग्रेजी शिक्षा दी। इसी के साथ उन्होंने बंगाल के कुछ बहुत योग्य युवकों को ईसाई बना लिया। हिन्दू कॉलेज के दो प्रतिभाशाली छात्र जो डेरोजियों के शिष्य थे—महेशचंद्र घोष तथा कृष्णमोहन बनर्जी—इन प्रथम धर्मान्तरितों में थे। निरंतर धर्मान्तरों की घटनाओं से शिक्षित हिन्दू भद्रजन विचलित हो गए और उनमें प्रभावशाली लोगों ने ईसाई मिशनरियों के इस अनावश्यक तथा अशोभन धर्मान्तरण-उन्माद को रोकने की ठानी। देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में तत्त्वबोधिनी सभा ने इस विरोध-आंदोलन में प्रमुख रूप से भाग लिया।

डफ ने भारत से पहली बार घर लौटकर वहीं 'इंडिया ऐंड इंडियाज मिशन्स' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उन्होंने हिंदू धर्म पर खासकर वेदांत पर कीचड़ उछाली। उनका आरोप था कि इस धर्म में कोई नैतिक बोध नहीं है। देवेन्द्रनाथ ने हिंदू समाज की ओर से चुनौती स्वीकार कर ली और 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में डफ़ के आरोपों के खंडन में एक लेखमाला लिखी। ये लेख अंग्रेजी में लिखे गए थे और १८४५ के अंत में 'वेदांतिक डॉक्ट्रिन्स विंडिकेटेड' नाम से एक पुस्तक में प्रकाशित हुए। इस पुस्तक के पहले लेखक की प्रतिज्ञास्वरूप उन्होंने लिखा : "अपने प्राचीन धर्मदर्शन का प्रचार करते हुए हम अपनी यह दृढ़ आस्था व्यक्त करते हैं कि केवल उन्हीं सिद्धांतों से हमारे ये प्रयत्न प्रेरित हुए हैं।"

ईसाई धर्म में दीक्षा का सिलसिला सिर्फ हिन्दू कॉलिज के स्नातकों तक सीमित नहीं रहा। उसका जाल बहुत दूर तक फैला था। जब एक सज्जन उमेशचंद्र सरकार तथा उनकी युवा पत्नी को डफ़ ने रिश्तेदारों के विरोध के बावजूद ईसाई बना लिया, तो कलकत्ता के हिन्दू समाज की अंतरात्मा हिल उठी। उन्होंने हिन्दू हितार्थी विद्यालय खोला जिसमें सभी वर्गों के हिन्दू बालक मुफ्त शिक्षा पा सकते थे। यह कदम निःशुल्क मिशनरी स्कूलों की हरकतों के विरुद्ध था, क्योंकि उन्हीं में सबसे अधिक धर्म-परिवर्तन होते थे। आम खतरे के विरुद्ध अनुदार और प्रगतिशील, सभी तरह के हिन्दू इस मंच पर एकत्र हुए। इस मसले पर उन सबके अलग-अलग खेमे एक हो गये। अनुदारों के घोषित नेता राजा राधाकांत देव ने अपना पूरा समर्थन दिया। कलकत्ता के अनेक अन्य जमींदारों ने भी दिल खोलकर दान दिया। कॉलेज से ताजा निकले भूदेव मुखर्जी को उस स्कूल का हेडमास्टर बनाया गया, जो आगे चलकर हिन्दू समाज के पुरोधा बने।

तीन साल से कुछ अधिक यह स्कूल सार्थक ढंग से चला।

ईसाई धर्मांतरण का ज्वार रोकने में हिन्दू समाज के सभी वर्गों को एकत्र करने में देवेन्द्रनाथ सफल हुए यह श्रेय उन्हें मिलना चाहिए। इस संयुक्त प्रयास का उन मिशनरियों पर निश्चय ही मारक असर हुआ।

जनवरी १८४६ के आसपास राजनारायण बोस ब्रह्मो समाज में आ गए और आगे देवेन्द्रनाथ के घनिष्ठतम अनुयायी बने; शायद सबसे अधिक समर्पित

साथी और मित्र भी। ब्रह्मो आंदोलन को उनसे बहुत बल मिला। इस बीच देवेन्द्रनाथ पूर्ववत् रफ्तार से रामचंद्र विद्यावागीश के साथ उपनिषदों का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने अंग्रेज़ी के मर्मज्ञ राजनारायण बाबू को मुख्य उपनिषदों का अंग्रेज़ी अनुवाद कराने में लगाया और तत्त्वबोधिनी पत्रिका में उन्हें क्रमशः प्रकाशित किया।

इन तथा अन्य गतिविधियों में देवेन्द्रनाथ का अधिकांश समय लगता रहा होगा, जिससे घरेलू मामलों या जमींदारी की देखभाल के लायक उत्साह उनमें नहीं बचता होगा। दरअसल उन्होंने यह कार्यभार अपने अनुज गिरीन्द्रनाथ को सौंप दिया था जो इसमें निपुण थे। देवेन्द्रनाथ ध्यान और मनन में तथा तत्त्वबोधिनी सभा एवं ब्रह्मो समाज की देखभाल में मग्न रहते।

स्वाभाविक था कि द्वारकानाथ अपने ज्येष्ठ पुत्र के सांसारिक विराग पर चिंतित हों। आजीवन श्रम से उन्होंने जो अपार जायदाद बनाई थी, उसके भविष्य की उन्हें चिंता हुई। वे समझ गए कि यदि बड़े बेटे का यही हाल रहा तो कुछ ही दिनों में धन-दौलत लुट जाएगी। संभवतः इसी कारण उन्होंने १८४० में, जब देवेन्द्रनाथ तत्त्वबोधिनी सभा के मामलों में निमग्न थे, अपनी संपत्ति का एक न्यास बना दिया जिसके तीन न्यासियों को स्पष्ट निर्देश था कि उस संपत्ति की आमदनी का उपयोग द्वारकानाथ के वारिसों के परिवारों की देखभाल में होगा तथा किसी भी अंश को बेचा या हस्तांतरित नहीं किया जायेगा। १८४३ में ही उन्होंने अपना वसीयतनामा भी लिख दिया।

द्वारकानाथ ने अपने बेटे पर कई अन्य तरीकों से भी नाराज़गी प्रकट की। घरेलू बातचीत में उन्होंने उलाहना दिया कि शायद रामचन्द्र विद्यावागीश ने ही उनके बेटे को बरगलाकर धर्म-विह्वल-बना दिया है। देवेन्द्रनाथ ने इशारा समझ लिया और आगे वे अपने घर पर नहीं बल्कि तत्त्वबोधिनी पत्रिका के छापेखाने में विद्यावागीश से उपनिषदों की शिक्षा लेते रहे। १८४५-४६ में इंग्लैंड की अपनी यात्रा के दौरान द्वारकानाथ ने पत्र लिखकर देवेन्द्रनाथ को सांसारिक विरक्ति के लिए साफ़-साफ़ डाँटा (पत्रावली, १४५)। लेकिन पिता की डाँट चाहे जितनी वाजिब रही हो, बेटे का धार्मिक उत्साह रंचमात्र भंग नहीं हुआ। बेटे की आत्मा ईश्वर पर अनुरक्त थी और दृढ़ता से अनुरक्त थी; इस विकट यात्रा में आधे रास्ते से वे कैसे लौट सकते थे?

संकट

कहावत है, विपत्ति कभी अकेली नहीं आती। देवेन्द्रनाथ के मामले में यह उक्ति मानो पूरी तरह साबित हुई। क्योंकि १८४५ के उत्तरार्द्ध से लेकर १८४८ तक—लगभग तीस महीने की अवधि में—एक के बाद एक मुसीबत उन पर आती गई। इस संकटकाल को झेलना बहुत पीड़ाजनक था, पर उनके साहस और धर्म की महिमा है कि उन्होंने इसे सह लिया। उनसे छोटा कोई आदमी इस संकट-वर्षा में टूट गया होता। उनके चरित्र का औदात्य इसी अवधि में खुलकर सामने आया। ईश्वर में अटूट आस्था तथा ईश्वरेच्छा को सब कुछ मानने के कारण ही इन महीनों में उनका मनोबल बना रहा।

पहला धक्का तब लगा जब १ अगस्त, १८४६ को उनके पिता का इंग्लैंड में देहांत होने का समाचार आया। कलकत्ता पहुँचने में इस खबर को ४७ दिन लग गए। उस समय देवेन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ गंगा में नौका-विहार कर रहे थे। वे तत्काल घर आए।

अग्निपरीक्षा की यह शुरुआत ही थी। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाजी ढंग से पिता का श्राद्ध करना तय किया—मूर्तिपूजक रीति-रिवाज छोड़कर विशुद्ध औपनिषदिक ढंग से। हिन्दू घरों में विष्णु की प्रतीक शालिग्रामशिला, जो कि हर पूजा के अवसर पर पंडितों द्वारा पूजी जाती है, उन्होंने पिता की दिवंगत आत्मा की शांति के पूजन के अवसर पर नहीं पूजने का निश्चय किया। उनके शुभचिंतकों तथा संबंधियों ने राय दी कि वे ऐसा अतिवादी कार्य न करें। उनके अनुज गिरीन्द्रनाथ तक ने, जो कि ब्रह्मसमाजी थे, यही राय दी। उन्हें भय था कि श्राद्ध में विशुद्ध ब्रह्मसमाजी पद्धति अपनाने पर उनके रिश्तेदार उन्हें छोड़ देंगे। बंधुभक्त होते हुए भी गिरीन्द्रनाथ मूलतः दुनियादार थे, अतः उन्होंने रश्तेदारों के रुख का सही अनुमान लगाया था। वह युग कट्टरपंथ का था और मान्य परंपराओं से जरा भी इधर-उधर होने से सामाजिक बहिष्कार अवश्यंभावी था। पर देवेन्द्रनाथ शालिग्राम शिला की पूजा न करने पर दृढ़ थे और वह अपने सिद्धांत से जरा भी हटने को तैयार नहीं थे। ब्रह्म समाज की दीक्षा में अनित्य या सीमित देवताओं की पूजा का कोई स्थान नहीं था। घोषित ब्रह्म समाजी देवेन्द्रनाथ भला अपने मूल धार्मिक विश्वास पर समझौता क्यों करते! दान-दक्षिणा जैसे मसलों पर वे मान्य रीति-रिवाजों को स्वीकार करने के लिए तैयार थे जो उनके सामाजिक ओहदे के अनुकूल भी था, पर पूजा-विधि के प्रश्न पर वे अडिग थे।

अपने सिद्धांत और सम्मान की रक्षा के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार थे।

नतीजा यह हुआ कि मुट्ठी-भर रिश्तेदारों को छोड़ अन्य सभी ने उनका सामाजिक बहिष्कार किया। अपने हठ के कारण उनकी नाराजगी उठाकर भी उन्हें इस बात की प्रसन्नता रही कि उन्होंने अपने आध्यात्मिक विवेक को अक्षुण्ण रखा।

पर असली विपत्ति अभी आगे आने वाली थी। द्वारकानाथ की मृत्यु के कोई एक वर्ष बाद उनके यूनियन बैंक का दीवाला निकल गया (२७ दिसंबर, १८४७)। उसके बाद 'कार, टैगोर ऐंड कं०' ठप्प हो गयी, और १५ दिन बाद (१२ जनवरी, १८४८) वह व्यवसाय बंद हो गया। दोनों धंधे इस कदर जुड़े हुए थे कि एक के बंद होने पर दूसरे को ढहने में पंद्रह दिन भी नहीं लगे। इस दोहरी त्रासदी के फलस्वरूप कलकता के अनेक धनी घराने कंगाल हो गए।

प्रस्तुत अध्ययन के संदर्भ में यह आवश्यक नहीं है कि हम इन दोनों आघातों के व्यापक कारण देखें या उन परिस्थितियों का विश्लेषण करें। यह कहना पर्याप्त होगा कि द्वारकानाथ इन दोनों को अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखने के लिए अक्सर ऋण का सहारा लेते रहते थे। इसके अतिरिक्त अपनी उदार दानशीलता तथा खर्चों को कायम रखने के लिए भी उन्हें बाज़ार से भारी कर्ज़ लेने पड़ते थे। द्वारकानाथ से कागज का पुर्ज़ा मिलते ही अनेक धनीमानी लाखों रुपयों का क़र्ज दे देते थे।

अब इंग्लैंड में द्वारकानाथ की मृत्यु के बाद पता लगा कि वे एक करोड़ से अधिक रुपयों का कर्ज छोड़ गए हैं, तथा दोनों कंपनियों के सारे शेयर उनके तथा तीन बेटों के नाम थे। अतः तीनों बेटों पर ऋण चुकाने का भार आ गया। दोनों कंपनियों के साहूकारों ने एक बैठक में तय पाया कि यदि इन कम्पनियों की सारी संपत्ति बेचकर नगद रुपये हासिल कर लें और बैंक द्वारा दिये गये ऋण की पाई-पाई वसूल हो जाय—जो उस समय असंभव था—तब भी कर्ज पूरे करने के लिए ३० लाख रुपयों की और जरूरत होगी। 'कार, टैगोर ऐंड कं०' के सभी यूरोपीय शेयर पहले ही टैगी-परिवार ने खरीद लिये थे, क्योंकि इन शेयरों के स्वामी यूरोपीय उन्हीं कम्पनियों में मैनेजर या उच्चाधिकारी के रूप में भारी वेतन पाने लगे थे। अपने वसीयतनामे में उन्होंने ये शेयर बड़े बेटे के नाम कर दिए थे। पर देवेन्द्रनाथ ने उन शेयरों का केवल अपने लिए लाभ उठाने के बजाय उन्हें तीनों भाइयों—स्वयं, गिरीन्द्रनाथ और नगेन्द्रनाथ—में बाँट दिया था। बाद में खरीदे गए यूरोपीय शेयरों का भी यही हुआ।

देवेन्द्रनाथ ने इस गंभीर संकट में भी मानसिक संतुलन नहीं खोला। बल्कि वे पहले से भी अधिक अंतरवासी हो गए तथा सब-कुछ भगवान् की इच्छा पर छोड़ दिया। वे अच्छी तरह जानते थे कि यदि पूरा ऋण पटाने लगे तो खानदान

की जायदाद का चप्पा-चप्पा बिक जाएगा, न्यास द्वारा संरक्षित हिस्सा भी नहीं बच पाएगा, और तिस पर भी क़र्ज़ पूरा नहीं पटेगा। पर वे साहूकारों को दिए वचन तथा कम्पनियों के पुरस्कर्त्ताओं के सम्मान की रक्षा के लिए सभी कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे।

उपर्युक्त साहूकारों की बैठक में दीवालिया कम्पनी की ओर से श्री गॉर्डन ने ठाकुर खानदान की सम्पत्ति और ऋणों का ब्यौरा देते समय सम्पत्ति की सूची में से न्यास-सम्पत्ति अलग कर दी, और संकेत दिया कि उसका हस्तांतरण या बिक्री संभव नहीं है, अतः साहूकारों का उस पर कोई अधिकार नहीं है। देवेन्द्रनाथ को प्रतीत हुआ कि श्री गॉर्डन शायद उस सम्पत्ति के मामले में ठाकुर-परिवार के लिए विशेष अनुकंपा माँग रहे हैं; उन्होंने तत्काल उठकर कहा कि वे उस सम्पत्ति को भी साहूकारों को स्वेच्छा से तत्काल देने को राज़ी हैं यदि क़र्ज़ चुकाने के लिए उसकी ज़रा भी आवश्यकता पड़े।

इस घोषणा का श्रोताओं पर चमत्कारी प्रभाव हुआ। आत्मकथा से उद्धरण देखें : "मैंने देखा कि हमारे इस प्रस्ताव को सुनकर अनेक दयालु साहूकारों की आँखों से आँसू आ गए। हम पर आसन्न खतरा देखकर वे दुखी और भाव-विगलित हो गए। उनकी समझ में आ गया कि इन कम्पनियों के उतार-चढ़ाव में हमारा कोई हाथ न था, कि हम निर्दोष और निरीह थे; कि हमारी इस कच्ची उम्र में हम पर आयी विपदा के लिए हम दोषी नहीं थे (देवेन्द्रनाथ तब केवल ३० वर्ष के थे)। उन्हें इस बात पर क्लेश हुआ कि आज हमारी कही जाने वाली सम्पत्ति में से कल कुछ भी हमारा नहीं रह जाएगा। उनके अपने घाटे से उन्हें नाराज़ होना चाहिए था, पर उनका मन दया से भरा हुआ था। उनके मन में यह दया कहाँ से आई ? मेरे उसी प्रभु ने उनके हृदय में करुणा का संचार किया था।" (अध्याय १६)

उनके कुछ दुनियादार शुभचिंतकों ने सलाह दी कि दीवालियापन अधिनियम का सहारा लेकर देवेन्द्रनाथ अपना ऋण अदा करने से मना कर दें। पर यह विचार ही उन्हें गलत लगा, और झूठा भी। शरीर पर जब तक एक चीथड़ा भी है कचहरी में खड़े होकर खुद को दीवालिया घोषित करना एक झूठ होता और उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाता। वे किसी आर्थिक लाभ के लिए अपना सामान बेचने को तैयार नहीं थे। उन्होंने प्रार्थना की, "प्रभु और धर्म हमारी रक्षा करें ताकि हमें दीवालिया अधिनियम के लिए अपना सामान न बेचना पड़े।"

दुनियादारों में भी जो अधिक चालाक थे उन्होंने देवेन्द्रनाथ को राय दी कि ऋण चुकाने की जिम्मेदारी से बचने का सबसे आसान तरीका है 'बेनामी' का सहारा लेना, अर्थात् वे अपनी जायदाद किसी एक या अनेक लोगों के नाम कर दें जिन पर दावा नहीं है। उन्होंने बताया कि अनेक गण्यमान्य लोग कुछ परिस्थितियों में यह कर चुके हैं। पर यह विचार ही देवेन्द्रनाथ को इतना घृणित लगा कि उन्होंने उस पर बात करना भी उचित नहीं समझा। देवेन्द्रनाथ को यह सुझाव देने वालों को पता नहीं था कि वे किस धातु के बने हैं।

'कार, टैगोर ऐंड कम्पनी' का पूरा कर्ज अदा करने की जिम्मेदारी देवेन्द्रनाथ और उनके तीन भाइयों ने ले ली, जिससे समाज में उनकी प्रतिष्ठा कई गुनी बढ़ गयी। बेहिचक गरीबी का वरण करके सत्य-रक्षा के लिए कृत-संकल्प उन लोगों की प्रशंसा हरेक की जुबान पर थी। साहूकारों पर इसका विशेष अच्छा असर हुआ। उन्हें गुमान भी न था कि लक्ष्मी के मद में मस्त नगर कलकत्ता में कोई ऐसा परिवार भी होगा जो अपने दिवंगत पिता के ऋण चुकाने के लिए आत्मत्याग को तैयार हो। अपनी सारी संपत्ति लगाकर और उसके बाद भी, पिता का पूरा ऋण कबूल करने तथा चुकाने का वचन देकर देवेन्द्रनाथ ने जो उदारता दिखाई थी, उनके अलावा एक और घटना से साहूकार भाव-विह्वल हुए थे। देवेन्द्रनाथ तथा उनके भाइयों की छोटी से छोटी वस्तु की सूची बनाकर पढ़कर सुनायी जा रही थी। पर भूल से एक चीज रह गयी। देवेन्द्रनाथ ने तत्काल उठकर कहा कि हीरे की जो अँगूठी वे पहने हुए हैं वह भूल से सूची में दर्ज नहीं हो पायी पर उसे भी दर्ज किया जाए क्योंकि वह उनकी सम्पत्ति का अंग है। (यह घटना पंडित शिवनाथ शास्त्री ने सुनाई थी जिसे अजितकुमार चक्रवर्ती ने महर्षि देवेन्द्रनाथ की जीवनी में दर्ज किया है।)

साहूकारों को अपनी आँखों और कानों पर विश्वास न हुआ ! देवेन्द्रनाथ की ईमानदारी और सचाई से वे इतना द्रवित हुए कि उन्होंने स्वेच्छा से सम्पत्ति के कुछ अंश पर अपना दावा छोड़ दिया तथा तय किया कि ऋण अदायगी पूरी होने तक तीनों भाइयों को खर्च चलाने के लिए प्रतिवर्ष पच्चीस हज़ार रुपये मिलते रहेंगे।

अब चूंकि सारी जायदाद दूसरे लोगों के हाथों में चली गयी इसलिए आमदनी घट गयी तथा विशृंखलित हो गई; ठाकुरों के जोड़ासाँको भवन में अभूतपूर्व ढंग के आत्मस्वीकृत सादगी आ गयी। मैं देवेन्द्रनाथ की आत्मकथा से ही उद्धरण दूँ, "नौकरों की फौज काफी कम हो गयी। मैंने अपनी बग्घियाँ और घोड़े नीलाम कर दिये, रसोई का स्तर यथासंभव कम कर दिया। संक्षेप में मैं घर में रहते हुए संन्यासी हो गया। मैं कल क्या खाऊँगा या क्या पहनूंगा इसकी कोई चिन्ता नहीं रही। न ही मुझे इस बात की चिंता थी कि कल मैं इसी घर में रहूँगा या छोड़ दूंगा। मैं बिलकुल ही अनासक्त हो गया। मैंने उपनिषदों में अनासक्त व्यक्ति के सुख और शांति के बारे में पढ़ा था; ये क्या हैं इनका अनुभव मुझे अपने ही जीवन में हुआ था। चन्द्रमा जिस तरह राहु के ग्रास से मुक्त हुआ था, मेरी आत्मा भी उसी तरह सांसारिक माया-मोह से छूट गयी। वह अब ब्रह्मानन्द में

विचरने लगी।" (अध्याय १९)

देवेन्द्रनाथ की बड़ी बेटी, स्वर्गीय श्रीमती सौदामिनी देवी ने 'पितृस्मृति' में अपने पिता के संस्मरणों में लिखा है, "प्रायः पिता के साथ भोजन करने वाले राजनारायण बाबू ने एक दिन देखा कि शाम के भोजन में दाल और चपाती के अलावा कुछ नहीं है। राजनारायण बाबू ने व्यग्रता से पूछा कि इस तरह के अल्प भोजन से वे कैसे अपनी काया को संभाल सकेंगे, तो देवेन्द्रनाथ ने तत्काल उत्तर दिया, 'प्रभु की रची हुई परिस्थिति में जो आदमी रह ले उसके लिए सभी कुछ कल्याणकर है'।"

परिवार के रहन-सहन के स्तर में कमी आने के साथ-साथ बाहर का खर्च भी बहुत कम करना पड़ा। पैसों की कमी के कारण तत्त्वबोधिनी पाठशालाओं और हिन्दू हितार्थी विद्यालय के सभी अनुदान स्थगित करने पड़े। इस कारण ये सभी संस्थाएँ संकट में पड़ गईं। अन्य अनेक सामाजिक कल्याण की संस्थाओं को भी आर्थिक सहायता देना बंद करना पड़ा जिनको अब तक देवेन्द्रनाथ से नियमित चंदा मिलता था। इसी कारण बनारस गए चारों छात्रों को वापस बुलाना पड़ा। संक्षेप में, अनेक स्तरों पर तथा अनेक दिशाओं में आर्थिक सहायता का कार्यक्रम बंद कर देना पड़ा। देवेन्द्रनाथ जैसी संवेदनशीलता और उदारता वाले व्यक्ति को इन अभावों और स्थगनों से कितना कष्ट हुआ होगा इसकी कल्पना की जा सकती है।

पूरा ऋण लगभग ९ वर्ष (१८४७-५६) में चुक पाया। ऋण चुकाने में कितनी सावधानी बरती गयी होगी इसका अंदाज एक घटना से लग जाएगा। द्वारकानाथ ने कभी अंधों की धर्मादा संस्था को एक लाख रुपये देने का वचन दिया था। इस अनौपचारिक वादे को इन परिस्थितियों में यदि देवेन्द्रनाथ पूरा न करते तो कोई उन्हें दोषी न ठहराता। पर अपने पिता के प्रति उनका आदर और सत्य के प्रति निष्ठा ऐसी थी कि उन्होंने पिता का यह वचन भी पाई-पाई पूरा किया। वचन देना और वचन निभाना, उनके लिए एक ही बात थी। यदि उन्होंने पिता का वचन न निभाया होता तो अंध-संस्थान के प्रति अन्याय होता और पिता की आत्मा का तिरस्कार भी। वह दोनों में से किसी भी बात को नहीं होने दे सकते थे।

प्रकट है कि ये नौ वर्ष घोर कष्ट, अभाव और कठोर जीवन के दिन थे। आर्थिक दृष्टि से यह देवेन्द्रनाथ के जीवन का सबसे खराब समय था पर आत्मिक दृष्टि से उनके जीवन का एक सर्वोत्कृष्ट काल भी। अग्निपरीक्षा ने उनके वास्तविक, भव्य और नैतिक ऐश्वर्य की छवि उकेर दी। महर्षि की उपाधि उन्हें बाद में दी गई : भारतवर्षीय ब्रह्मो समाज के मंच से केशवचंद्र सेन ने १८६७ में उनके आध्यात्मिक और साधु-चारित्र्य के सम्मान में यह पदवी प्रदान की थी। पर इसमें संदेह नहीं कि इस उपाधि की अर्हता उन्होंने इसी अवधि में अर्जित कर ली

थी—प्रभु इच्छा को समर्पित होकर, पूर्णतः उन्हीं में लीन रहकर।

जायदाद घटने या उससे आमदनी कम हो जाने का महर्षि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि वे अपने ओहदे में इस परिवर्तन का स्वागत करते-से लगे, तथा भाग्य के हर उतार-उढ़ाव में ईश-विधान ही देखते थे। सारे कष्ट उन्होंने हँसते हुए झेले। राममोहन राय की तरह वे भी फारसी सूफी कवि हाफिज के प्रशंसक थे जिनकी पंक्तियाँ हमेशा उनके होंठों पर रहतीं। हम जिस अवधि का जिक्र कर रहे हैं, उसमें वे अक्सर हाफिज की गजल का एक शेर गुनगुनाते रहते, जिसका अर्थ था : "भले ही सिर्फ यही प्रार्थना करो कि बिजली गिर जाय। यदि प्रार्थना से बिजली गिरी और धन-दौलत और फसल मिट गयी तब भी मुझे कोई आश्चर्य न होगा।"

नयी दृष्टि

पिछले अध्याय में जिस संकट का उल्लेख हुआ है उसमें आर्थिक विपत्ति ही एक-मात्र वस्तु नहीं थी। कुछ और भी पहलू थे। वेदों के अपौरुषेय होने न होने के प्रश्न पर अक्षयकुमार दत्त, रामतनु लाहिड़ी और तत्त्वबोधिनी सभा में उनके अन्य समर्थकों, तथा दूसरी ओर देवेन्द्रनाथ एवं राजनारायण बोस के बीच तीखे मत-भेद की चर्चा पहले आ चुकी है। देवेन्द्रनाथ बहुत समय से वेदों को ईश्वर-प्रदत्त, अपौरुषेय ज्ञान के ग्रन्थ मानते थे, इसलिए उन्हें अमोघ भी समझते थे। अक्षय-कुमार ने अमोघता की अवधारणा को ही चुनौती दी तथा कहा कि वेदों के अनेक मन्त्र विवेक-सम्मत नहीं हैं इसलिए अस्वीकार्य हैं। राजनारायण बाबू ने दोनों ध्रुवों के बीच संतुलन लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि वेदों और उपनिषदों को इसलिए अमोघ नहीं माना गया कि वे अपौरुषेय ज्ञान के भंडार हैं बल्कि इसलिए माना गया क्योंकि उनकी शिक्षाएँ उन्हें बुद्धिसंगत एवं न्याय्य प्रतीत होती हैं। पर इस व्याख्या से अमोघता के आलोचक संतुष्ट नहीं हुए। देवेन्द्रनाथ के विरुद्ध वे पहले की ही तरह अड़े रहे। ज्यों-ज्यों समय बीता, विवाद उग्रतर और कटुतर होता गया तथा शास्त्रीय बहस के दायरे से बाहर भी फैला।

दोनों दृष्टिकोणों के गहरे अंतर को देखकर महर्षि अपने अब तक के दृष्टि-कोण पर गहरा मनन करने लगे। स्वभाव से वे शांत-स्थिर पर और अनुशासित ढंग से सोच-विचार करते थे। एक बार मत बनाने के बाद उन पर तब तक पुनर्विचार का सवाल नहीं होता था जब तक कि इसके लिए अनिवार्य कारण न आ जाए। दूसरे शब्दों में, उनके मस्तिष्क की आदतें कमोबेश सुनिश्चित थीं। इस प्रवृत्ति को उनके चरित्र की अनुदारता का सूचक समझा जा सकता है पर इस स्वभाव का एक लाभ निश्चित था कि उनकी बुनियादी धारणाएँ हमेशा सुदीर्घ, अनवरत और प्रौढ़ विचार के बाद ही बनती थीं। उनमें उस तरह इधर-उधर भटकने की गुंजाइश नहीं रहती थी जैसी कि लचीले या ढुलमुल विचारों वाले लोगों के साथ होती है, जो हवा का रुख देखकर बदलते रहते हैं। देवेन्द्रनाथ में तीव्र मेधा थी पर वह बहिर्मुखी अस्थिर किस्म की नहीं थी। चंचलता उनके स्वभाव से कोसों दूर थी।

अब जब देवेन्द्रनाथ को अपने वेद-संबंधी दृष्टिकोण पर चारों तरफ से आलो-चना सुननी पड़ी, तत्त्वबोधिनी सभा की बैठकों और उसके मुखपत्र में भी बवाल मचने लगा, तो उन्होंने आलोचकों के विचारों का सम्मान करते हुए वेदों के बारे

में अपनी मान्यता पर नये सिरे से सोचा। पर यह उनके लिए कोई सरल काम नहीं था। अभी तक उनके पूरे धार्मिक दर्शन की इमारत वेदों की कथित दृढ़ नींव पर खड़ी थी। उसके पूरे ढाँचे की, पूरे स्वरूप की छानबीन करने के बाद ही उसे सुधारने की कोई बात सोची जा सकती थी। वर्षों तक मन में जमे विश्वास की फिर से जाँच-पड़ताल करना उनके लिए एक दारुण अनुभव था।

आलोचकों की एक दलील यह थी कि चूँकि ब्रह्मोवाद नया धर्म है इसलिए इसको किसी दकियानूस धर्मदर्शन पर आधारित न होकर आधुनिक युग के अनु-रूप बुद्धिसंगत होना चाहिए। सवाल यह नहीं है कि यह तर्क निर्दोष है, बल्कि यह है कि जिस रूप में इसे रखा गया उसमें जरूर कुछ दम था। खासकर तब जब वे अपने एक नये धर्म को ठोस आधारभूमि देना चाह रहे थे।

देवेन्द्रनाथ वेदों और उपनिषदों के गहन अध्ययन में लग गए। अभी तक उन्होंने कुछेक मुख्य उपनिषद् ही जाने थे, यथा कठ, केन, ईश, मुंडक, मांडूक्य इत्यादि। पर उन्होंने जाना कि अनेक उपनिषद् अल्पज्ञात हैं पर महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने समूचे वैदिक ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं का अनुशीलन शुरू कर दिया, एक मर्मज्ञ विद्वान् की संपूर्णतावादी दृष्टि से। इस प्रयोजना की भीषणता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन दिनों वे अपने पिता की मृत्यु तथा दो कम्पनियों के दीवालिया हो जाने पर भयानक आर्थिक कष्ट से गुजर रहे थे। कोई अति मानवीय उत्साह और ऊर्जा वाला व्यक्ति ही एक साथ इस तरह के दो परस्पर असंभव कार्य कर सकता था।

संस्कृत के साथ-साथ उन्होंने यूरोपीय दर्शन तथा धर्मशास्त्रों का भी अध्ययन शुरू किया। देवेन्द्रनाथ हमेशा अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए दूसरों का भी लेखन-साक्ष्य खोजते थे। इसे वे 'साय' या साहाय्य की खोज कहते थे। अपनी प्रस्थापना की पुष्टिहेतु उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों और यूरोपीय दर्शन एवं धर्मशास्त्रों का सूक्ष्य अध्ययन किया। इसके अलावा फारसी कवि हाफिज भी उनके अनवरत स्रोत थे।

हिन्दू कॉलेज में उन्होंने यूरोपीय दार्शनिकों में लॉक, ह्यूम, बेन और अन्य अनुभववादियों को पढ़ा था पर प्रकृति तथा अनुभव मात्र समस्त ज्ञान का स्रोत मानने के उनके अतिशय आग्रह को वे स्वीकार नहीं कर पाए। महर्षि के जीवनी-कार अजितकुमार चक्रवर्ती के अनुसार देवेन्द्रनाथ का फ्रांसीसी विश्वकोशकारों के कृतित्व से भी परिचय था पर ब्रह्माण्ड की यांत्रिक व्याख्या उन्हें अरुचिकर लगी। देवेन्द्रनाथ ने वाल्टेयर, डिडेरो, डी अलेम्बर्ट या इन अन्य अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी भौतिकवादी चिंतकों को पढ़ा हो या नहीं, पर ला मेत्री और होलबाख को पढ़ने का साक्ष्य उनकी आत्मकथा में मिलता है—जो उसी संप्रदाय के प्रसिद्ध विचारक थे। यह बिल्कुल संभव है कि देवेन्द्रनाथ जैसे दृढ़ आस्तिक व्यक्ति के

मन पर उन लोगों के नास्तिक विचारों का प्रतिकूल असर पड़ा हो। आत्मकथा के तीसरे और चौथे अध्यायों में उन्होंने प्रकृति पर अत्यधिक भरोसा करने वाली प्रस्थापनाओं पर व्यंग्य किया है जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

अपने मत की पुष्टि की तलाश में देवेन्द्रनाथ ने अब स्वतः ज्ञानवादी हैमिल्टन, रीड, डुगाल्ड स्टुअर्ट इत्यादि अधिकांश स्कॉटिश विचारकों के ग्रन्थ छाने, और उनसे बहुत प्रभावित हुए। इनके लेखन में उन्हें अपनी धारणाओं का समर्थन मिला। बाद में देवेन्द्रनाथ ने स्पिनोजा, देकार्ते, कजिन, कांट, फिश्टे और अन्य दार्शनिकों का विधिवत् अध्ययन किया। इसी बीच उन्होंने गासेंदी (व्यवस्थित भौतिकवाद के प्रवर्तक) और सर रॉबर्ट बॉयल (अंग्रेज दार्शनिक वैज्ञानिक) की रचनाएँ भी देखीं। ये दोनों सत्रहवीं सदी के थे। देवेन्द्रनाथ दार्शनिक चिंतन की नवीनतम प्रवृत्तियों की जानकारी रखते थे। वे विज्ञान में भी रुचि लेते थे। ८८ वर्ष के दीर्घ जीवन (उनकी मृत्यु १९०५ में हुई) में वे समकालीन विज्ञान और दर्शन के प्रमुख लेखन से अच्छी तरह परिचित रहे। नये लेखकों में जॉन स्टुअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेंसर और कार्डिनल न्यूमन उन्हें प्रिय थे।

इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने विविध यूरोपीय लेखकों का पर्याप्त अध्ययन किया था। जहाँ तक भारतीय तत्त्वचिंतन का संबंध है, अब हम कुछ विस्तार से उस पर लिख सकते हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वेदों की अमोघता पर बहस छिड़ने तक उन्होंने समस्त उपनिषद् नहीं पढ़े थे। उन्होंने छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् तो तब तक निश्चय ही नहीं पढ़े थे। चारों वेदों तथा उनके निचोड़ उपनिषदों के सूक्ष्म अनुशीलन से उन्हें अपने ही मत के विरुद्ध यह मानना पड़ा कि उनमें से कुछ में ऐसे प्रसंग हैं जो कि अबुद्धिसंगत हैं और ईश्वर को अनंत, अक्षर, सनातन, अप्रमेय इत्यादि मानने की धारणा के विरुद्ध जाते हैं। सवाल यह नहीं था कि वेद अमोघ हैं या नहीं (अक्षयकुमार तथा उनके समर्थक इसी रूप में प्रश्न रखते थे) बल्कि प्रश्न यह था कि वेदांत की छानबीन के बाद उसकी कुछ कमियाँ इतने स्पष्ट रूप से सामने आ चुकने के बाद भी क्या वह ब्रह्म समाजियों को एकजुट करने वाला आधार बना रह सकता है? राजा राममोहन राय का ब्रह्मो धर्म 'वेदांत में प्रतिपादित धर्म' था तथा उसे ही अब तक नये धर्म का आधार माना जाता था। लेकिन छांदोग्य उपनिषद् में कुछ प्रसंग हैं जो अनुष्ठानों और कर्मकांडों पर अनावश्यक जोर देते हैं तथा कल्पनातिरेक के सूचक हैं (५/१०/३-६) उन्हें जानने के बाद वे अपने नये धर्म का आधार वेदांत को कैसे मानते रहें?

बादरायण ब्रह्म सूत्र पर शंकराचार्य की टीका जो शारीरिक मीमांसा या उत्तर मीमांसा के रूप में प्रसिद्ध है, उन्हें खास तौर पर विचलित कर गयी। शंकराचार्य को वेदांत का परम अधिकारी माना जाता है। वस्तुतः ब्रह्म सूत्र की

उनकी टीका को ही सामान्यतः वेदांत माना जाता है। पर जब देवेन्द्रनाथ ने बृहदारण्यक उपनिषद् में 'सोऽहं मस्मि' जैसे सूत्र (१/४/१) या छांदोग्य उपनिषद् में 'तत्त्वमसि' जैसे सूत्र (६/८-१६) देखे, तथा शंकराचार्य के भाष्य में उनकी पुष्टि देखी, तो उन्हें लगा मानो उनके नीचे की जमीन हिल गयी है।

ईश्वर और भक्त में पूजित-पूजक संबंध ब्रह्मो धर्म का मेरुदंड है। यदि ईश्वर को भक्त के समतुल्य बना दिया जाए तो पूजक का अहम् इतना स्फीत हो जाएगा कि सारा ब्रह्मो धर्म का ढाँचा चरमरा कर गिर जाएगा। मैं आत्मकथा के ही शब्द उद्धृत करता हूँ: "पर 'मैं ही ब्रह्मो हूँ' इस प्रकार की आत्मस्तुति बहुत सारे दोषों की जड़ है। इस तरह की बातें बंद कर देनी चाहिए। इससे अधिक आश्चर्यजनक क्या हो सकता है कि सैकड़ों सांसारिक बंधनों में बँधा, दुर्बलताओं, शोक, संताप, पाप इत्यादि से घिरा प्राणी स्वयं को चिरंतन मुक्त कहने लगे? शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म को एक बताकर भारत का दिमाग खराब कर दिया है। उनके असर में संन्यासी और गृहस्थ तक इस मूर्खता को दोहराते रहते हैं कि 'सोऽहं'।" (अध्याय २८)

अस्तु, बहुत अनिच्छा के बावजूद महर्षि ने निष्कर्ष निकाला कि वेदांत उनके नए धर्म का आधार नहीं हो सकता। तब उसका आधार क्या हो; लंबे समय तक वे गहन मौन में इन प्रश्नों पर सोचते रहे। वेदों की अमोघता के अपने प्रिय विश्वास को भी उन्होंने छोड़-सा दिया तथा अक्षयकुमार दत्त, रामतनु लाहिड़ी इत्यादि आलोचकों की आपत्तियाँ स्वीकार कर लीं। अपनी जीवन-व्यापी मान्यताओं को छोड़ते हुए उनके हृदय में स्थायी पीड़ा बस गई, पर सत्य के प्रति उनके अथक आग्रह के आगे अन्य कोई रास्ता नहीं था। देवेन्द्रनाथ अवसरवादिता को जानते भी न थे।

देवेन्द्रनाथ ने खुलकर ऐलान किया कि आगे से ब्रह्मो धर्म का आधार न तो वेद होंगे न उपनिषद्। इससे उनकी मौलिकता और बौद्धिक साहस का पता लगता है। तब फिर वह आधार क्या हो? आत्मप्रत्ययसिद्ध ज्ञानोज्ज्वलित हृदय ही वह आधार है, उन्होंने जोर देकर कहा, "ब्रह्म का आवास विशुद्ध हृदय में ही होता है। विशुद्ध हृदय ही ब्रह्मो धर्म का आधार है। हम उपनिषद् के केवल वही अंश मान सकते हैं जो उस हृदय के अनुरूप हों। हम उसके विपरीत शब्दों को नहीं स्वीकार कर सकते।" (अध्याय २२, आत्मकथा)।

देवेन्द्रनाथ केवल अपने धर्म के उद्देश्य की घोषणा कर चुप नहीं बैठ गए, बल्कि आचारसंहिता के रूप में उसे ठोस आकार देने लगे। पहले उन्होंने घरों में तथा समाज मन्दिर में प्रार्थना के समय गाने के लिए प्रार्थनाएँ तैयार की थीं, जिन्हें समय-समय पर वे संशोधित या परिष्कृत करते रहते थे। उससे भी पहले उन्होंने ब्रह्मो धर्म में दीक्षा के समय प्रतिज्ञा की रचना की थी जिसमें संशोधन-

परिष्कार करते रहे थे, ताकि वह अधिकाधिक स्वीकार्य रूप ले सके। पर वे एक विराट् कार्य में जुट गए। वे अपने धर्म की 'संहिता' बनाने लगे। ज्यों ही यह विचार पक्का हुआ, उन्होंने अक्षयकुमार को बुला भेजा तथा उपनिषदों एवं अन्य ग्रन्थों में ब्रह्मो धर्म के अनुरूप श्लोक चुनकर मौखिक रूप से ही उन्हें लिखाने लगे। इस प्रकार तीन घंटे में 'ब्रह्मोधर्मः' की प्रारंभिक रूपरेखा बन गई। आगे चलकर उन्होंने व्याख्या और टिप्पणी जोड़कर कुछ अन्य श्लोक भी उसमें संग्रहीत किए।

पहले भाग के श्लोक मुख्यतः उपनिषदों के थे। उनमें परम ब्रह्म, सनातन सत्यों, और जीवन के लक्ष्य का बखान है। दूसरा भाग जीवन में सदाचरण का उपदेश-सा है जिसमें गीता, महानिर्वाणतंत्र, मनुसंहिता और तद्वत् अन्य ग्रन्थों के श्लोक हैं। इस भाग के १६ खंडों में गृहस्थ को विभिन्न कर्तव्य बताए गए हैं। माता-पिता, अग्रजों, पत्नी, बेटों और बेटियों तथा अन्य आश्रितों के प्रति कर्तव्य ईमानदारी, सत्यपरायणता, दान, आत्मसंयम—ये सभी इन उपदेशों के अंतर्गत हैं।

बात को प्रभावशाली बनाने के लिए अक्सर दो-तीन भिन्न स्रोतों के श्लोकों को जोड़कर नये श्लोक बनाए गए हैं। इसका परिणाम बहुत शानदार हुआ है। पाठक और श्रोता इन अलग-अलग श्लोक-खंडों के समुच्चय को एक अभिन्न श्लोक मानने लगे हैं। यह अभिन्नता उनके मन में इतनी पैठ चुकी है कि श्लोक के भिन्न खंड जानकर उन्हें कदाचित् विश्वास नहीं होगा। पुस्तक की व्यापक लोकप्रियता और बारंबार उसके पाठ किए जाने का योगदान यह है। उदाहरणार्थ प्रथम भाग के बारहवें अध्याय के श्लोक १०६ को लें।

येनाहम् नमृत स्याम् किमाहम् तेन कुर्याम्
असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतम् गमय
अबिराबिर्माएंधि
रुद्र यत्ते दक्षिणम् मुखम् तेन माम् पाहि नित्यम्

इसमें पहली पंक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।३; ४।४।३); दूसरी तीसरी और चौथी पंक्तियाँ उसी से पर अलग अंश से (१।३।२८); पाँचवीं पंक्ति आत्रेय (शांतिपथ) से और अंतिम पंक्ति श्वेताश्वतार उपनिषद् (४।२१) से ली गई हैं। उपनिषदों के सूक्ष्म अध्येता को छोड़ कौन इस प्रकार स्वीकृत प्रार्थना बनाने की सोचता? देवेन्द्रनाथ ने अपनी संश्लेषण-प्रवण प्रतिभा से उपनिषदों को इस रूप में रखा है कि वे पुनर्रचित लगते हैं। वे अपने संकलन को 'ब्राह्म उपनिषद' नाम देना चाहते थे। वैसा ही वह था भी।

'ब्रह्मोधर्मः' का संकलन करने के साथ-साथ उन्होंने ऋग्वेद का बाङ्ला में अनुवाद शुरू कर दिया जो तत्त्वबोधिनी पत्रिका में छपने लगा (अगस्त, १८४८)। बीस साल से अधिक वे यह अनुवाद करते रहे। यद्यपि उन्होंने वेदों और उपनिषदों को अपने धर्म का मूलाधार बनाने से इनकार कर दिया था, पर इन ग्रंथों की महत्ता को सर्वथा नहीं नकारा था। पुरातन ग्रन्थों में दीक्षित उनका मन यह बात सोच नहीं सकता था। वह उनके अपने अस्तित्व का ही निषेध होता! वेदोपनिषद् में उन्होंने पूर्ववत् रुचि ली, फर्क यह था कि अब कुछेक अंशों पर उन्हें शंका थी। अब उनका दृष्टिकोण चयनात्मक था।

प्रसंगवश, यह पुनः याद किया जाए कि देवेन्द्रनाथ यह सारा कार्य 'कार टैगोर ऐंड कम्पनी' के आर्थिक विनाश से जूझते हुए कर रहे थे। १८४८ उनके जीवन का सबसे व्यस्त वर्ष था, और शायद सबसे भव्य वर्ष भी। उस समय वे केवल ३१ वर्ष के थे।

अंतराल

१८४८ और १८५८ के बीच का दशक अपेक्षाकृत शांतिमय रहा जिसके दौरान देवेन्द्रनाथ ने यात्रा, ऋण-अदायगी, घरेलू कामकाज की देखभाल में समय बिताया; एक राजनीतिक संस्था ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के सचिव रहे; अनेक स्थानों पर, विशेष रूप से भवानीपुर में, ब्रह्मो समाज की शाखाएँ स्थापित कीं, दिन-दिन भर के बाग-मेलों और सम्मेलनों में ब्रह्म समाजियों से मुलाकात और समाज को सक्रिय बनाने की रीति-नीति पर विचार-विमर्श किया; और पुस्तकें लिखीं। उक्त सूची से ऐसा लगेगा कि ये अधिकांश कार्य मन-बहलाव वाले रहे होंगे, पर घरेलू चिंताओं को दृष्टि में रखें तो देवेन्द्रनाथ का यह समय भी बहुत शांतिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। साहूकारों को नियमानुसार ऋण अदा किया जा रहा था पर उसमें भी जब-तब झंझट आते ही थे। अनुज गिरीन्द्रनाथ लंबे अरसे तक कुशलतापूर्वक उनकी जायदाद वगैरह की देखभाल करते रहे थे, पर १३ दिसंबर, १८५४ को उनकी मृत्यु हो गयी। छोटे भाई के न रहने पर देवेन्द्रनाथ के पास दुनियावी मामलों का कोई सहायक नहीं रहा जिससे उन्हें बहुत असुविधा हुई। कुछ और कारणों से भी उन्हें असमंजस झेलना पड़ा।

एक साहूकार की शिकायत पर देवेन्दनाथ को गिरफ्तार करने का वारंट एक अदालत ने भेज दिया, तथा उन्हें शेरिफ के सामने ले जाया गया। मामला १४ हज़ार रुपये न चुकाने का था। बहरहाल उन्हें जमानत पर रिहा कर दिया गया तथा कचहरी के बाहर शीघ्र ही उस मामले में सुलह कर ली गयी।

उन दिनों की उनकी चिंताओं का यह एक पहलू मात्र है।

उनके सबसे छोटे भाई नगेन्द्रनाथ (जो द्वारकानाथ के साथ इंग्लैंड गये थे तथा पिता की मृत्यु के बाद लौटे थे) अपनी आय से अधिक खर्च करते हुए अक्सर क़र्ज़दार बने रहते थे। उन्होंने देवेन्द्रनाथ से अधिक पैसे माँगना और अपने ऋण पटाने का आग्रह शुरू किया। एक क़र्ज़ के मामले में उन्होंने देवेन्द्रनाथ को ज़ामिन बनने के लिए कहा। देवेन्द्रनाथ के लिए यह बहुत चिढ़ाने वाली बात थी क्योंकि वे किसी भी दशा में नये ऋण लेने के पक्ष में नहीं थे। इससे घर में कलह मच गया। गुस्से में नगेन्द्रनाथ ने घर छोड़ दिया और एक संबंधी के साथ रहने लगे। किसी भी दशा में वह लौटना नहीं चाहते थे।

परिवार के बाहर भी परिस्थितियाँ कोई बेहतर नहीं थीं। तत्त्वबोधिनी सभा में अक्षयकुमार दत्त, राखालदास हाल्दर, अनंगमोहन मित्र तथा अन्य लोगों ने

'ब्रह्मोधर्मः' ग्रंथ की आलोचना की एवं माँग की कि संस्कृति की जगह बाङ्ला भाषा का उपयोग किया जाए। फरवरी १८५३ में उन्होंने खिदिरपुर में ब्रह्म समाज की एक शाखा स्थापित कर ली तथा वहाँ वे बाङ्ला में प्रार्थना करने की अपनी चिर-आकांक्षा पूरी करने में सफल हुए।

अक्षयकुमार और उनके मित्रों ने 'जोड़ासाँको ठाकुरबाड़ी' में 'आत्मीय सभा' नामक एक संस्था बना ली। इसमें वे अनेक विषयों पर बहस करते थे और हाथ उठाकर बहुमत से फैसले कराते थे। ईश्वर के गुणों पर भी उन्होंने हाथ उठवा-कर फैसले किये।

महर्षि के लिए यह बिलकुल असहनीय हो गया। ईश्वर-भीरु देवेन्द्रनाथ इस प्रकार नास्तिकों की सभा में ईश्वर को बहस का विषय बनाना स्वीकार नहीं कर पाये। 'आत्मीय सभा' के सदस्यों की हरकतों से तंग आकर उन्होंने राजनारायण बाबू को लिखा कि कुछ 'नास्तिकों ने उनके बनाये संगठन पर कब्जा कर लिया है। उन्हें निकाले बगैर कुछ नहीं हो सकता।

यह सिर्फ एक गुस्से की अभिव्यक्ति थी अतः उनकी वास्तविक मंशा यह नहीं रही होगी। पर इससे प्रकट होता है कि उन दिनों देवेन्द्रनाथ कितने अकेले और हताश अनुभव कर रहे होंगे। कुछ समय वे कलकत्ता से बाहर बड़ानगर के एक घर में रहे तथा उपनिषदों और श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते रहे। वहीं रहते हुए उन्हें हिमालय जाने का विचार आया। उन्होंने तत्काल निर्णय किया।

उनके हिमालय-प्रवास की चर्चा से पहले हम उन छोटी-छोटी यात्राओं का सिंहावलोकन करें जो उन्होंने इसी दौरान की थीं।

यद्यपि देवेन्द्रनाथ ने अनित्य देवताओं तथा देवियों की मूर्ति-पूजा छोड़ दी थी, पर अपने भाइयों को वे इससे पूर्णतः विरत नहीं कर सके। वे अपने पुश्तैनी घर में दुर्गापूजा जारी रखना चाहते थे क्योंकि दुर्गापूजा मूलतः एक सामाजिक उत्सव है, सभी वर्गों के बीच संपर्क बढ़ाने का साधन है। वे जगत्-धातृ-पूजा बंद करने को तैयार थे पर दुर्गा पूजा की अपनी दीर्घ परंपरा को छोड़ने को नहीं।

इसलिए प्रति वर्ष जब दुर्गा पूजा का समय निकट आता, देवेन्द्रनाथ अपना घर छोड़ देते और देश के विभिन्न भागों की यात्रा करने चल पड़ते। इन यात्राओं के माध्यम से वे घर में होने वाली दुर्गा पूजा के निकट रहने की अप्रिय बाध्यता से बच जाते थे। इस तरह शरद ऋतु में वे चुने हुए स्थानों पर जाते। १८४९ के शरद में वे स्टीमर द्वारा गोहाटी गये तथा वहाँ कामाख्या पहाड़ियों पर कामाख्या मंदिर के दर्शन किये। अगले वर्ष वे अचानक एक समुद्र-यात्रा पर निकल पड़े—यह सागर से पहली मुठभेड़ थी—और बर्मा के मूलमेन तक गये। अपनी आत्मकथा में उन्होंने मूलमेन शहर का कुछ विस्तार से वर्णन किया है तथा शहर से कुछ मील दूर एक गुफ़ा तक अपनी यात्रा का विशेष उल्लेख किया है।

मार्च-अप्रैल १८५१ में वे उड़ीसा गये तथा वहाँ कटक एवं पुरी में रहे। बीच-बीच में वे बंगाल प्रांत में ही अनेक जगह जाते रहे जहाँ ब्रह्मो समाज के नये केन्द्र खोलने के प्रयत्न किये।

उस समय तक देवेन्द्रनाथ ने किसी भी तरह का राजनीतिक कार्य नहीं किया था। वस्तुतः वे अपनी धार्मिक गतिविधियों में इस तरह व्यस्त रहे कि कुछ और करने का समय ही नहीं था। पर जब अक्टूबर १८५१ में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन स्थापित हुई तथा उन्हें सचिव पद संभालने को कहा गया, तो सार्वजनिक हित के प्रति अपने समर्पण भाव मात्र के कारण वे न नहीं कह सके। दो अन्य समानधर्मा संस्थाओं का विलय करके ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना हुई थी : वे थीं द्वारकानाथ टैगोर को बेंगाल लैंडओनर्स एसोसिएशन और उनके दोस्त जॉर्ज टॉमसन द्वारा १८४५ में स्थापित बेंगाल ब्रिटिश इंडियन सोसाइटी। विलय इसलिए हुआ था कि ब्रिटिश निहित स्वार्थों के विरुद्ध बंगालियों के राजनीतिक प्रबोधन का संघर्ष तीव्र तथा जानदार तरीके से चलाने के लिए संयुक्त मंच की बहुत आवश्यकता थी। नव जागृत बंगाली बूर्ज्वा वर्ग बहुत समय से असंगठित और एकताहीन था और मध्यवर्गीय एवं उच्च मध्यवर्गीय बंगालियों को आपसी फूट का लाभ उठाकर अंग्रेज लोग अदालत में प्रायः मुकद्दमा जीत लेते थे। ऐसी एक जीत का मामला तथाकथित 'काले कानून' का था जिसे रद्द कराने के लिए अंग्रेज, खासकर कस्बों के निलहे गोरे लगातार आंदोलन कर रहे थे। अंत में वे विजयी हुए। इस अधिनियम के तहत यूरोपीय और भारतीय लोगों के बीच बराबरी लायी जाने वाली थी – अभी तक अंग्रेजों पर मुकद्दमे केवल कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट में हो सकते थे, जबकि इस कानून के ज़रिये, क़स्बों में अपराध होने पर यूरोपीयों पर जिला अदालतों में ही मुकद्दमा चलाया जाता। यह क़ानून शासक और शासित दोनों को समान न्याय दिलाता, पर अंग्रेजों के संगठित विरोध तथा बंगालियों की फूट के कारण यह क़दम परास्त हो गया।

इस घटना से बंगालियों की आँखें खुल गईं और उन्हें संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इसी का परिणाम उक्त एसोसिएशन थी। देवेन्द्रनाथ दो वर्ष से अधिक (१३ अक्टूबर, १८५१—१३ जनवरी, १८५४) इसके सचिव रहे। हालाँकि राजनीति से उन्हें लगाव नहीं था पर वे अपने सभी तरह के निर्धारित कार्यों को—बशर्ते वे उनकी आत्मा के विरुद्ध न हों—पूरे मनोयोग से करते थे। इस कार्य में भी उन्होंने ऐसा ही किया।

ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के सचिव पद पर रहकर उन्होंने चौकीदारी अधिनियम, भूमि सुधार अधिनियम और नमक अधिनियम में सुधार लाने की कोशिश की। पर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश संसद् के नाम वह ज्ञापन था जो ब्रिटिश उपनिवेशों के नमूने पर प्रस्तावित कौंसिलों तथा स्वशासन की संस्थाओं में

भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए लिखा गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी १८५३ में अपने चार्टर का नवीकरण करने वाली थी। उस संदर्भ में इस ज्ञापन का महत्त्व और बढ़ जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से उन दिनों भारत का राजनीतिक आंदोलन भ्रूणावस्था में ही था। पर यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस एसोसिएशन ने अपनी गतिविधियों से आगे चलकर १८७६ में राष्ट्रगुरु सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की इंडियन एसोसिएशन तथा १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की अगुवाई की थी।

१८५० या १८५१ के दौरान किसी समय महर्षि ने एक पुस्तक 'आत्मतत्त्व-विद्या' लिखी थी। इसमें उन्होंने अपने तत्कालीन दार्शनिक विचार लिखे थे—शांकर-वेदांत के अद्वैतवाद की आलोचना और अपने द्वैतवादी चिंतन की प्रस्थापना उसके विषय थे। 'भाया' के संबंध में वे शायद अत्यधिक पूर्वग्रहग्रस्त थे और इस कारण उनके विचार एकतरफा हो रहे थे पर उन्होंने संतुलन लाने में देर नहीं लगाई।

हिमालय की शरण लेने के लिए देवेन्द्रनाथ को बाध्य करने वाली परिस्थितियों और कारणों का जिक्र ऊपर आ चुका है। उन्होंने काशी के लिए एक नाव किराये पर ली और ३ अक्टूबर, १८५६ को गंगा पर अपनी यात्रा शुरू की। रास्ते में नवद्वीप, मुंगेर और पटना रुकते हुए वे लगभग डेढ़ महीने में काशी पहुँचे। काशी से आगरा तक वे किराये की बग्घी से गये। ताजमहल देखा और उसके सौंदर्य से वे बहुत प्रभावित हुए। नाव, बग्घी और डोली (पालकी) इत्यादि का सहारा लेकर वे मथुरा, वृन्दावन, दिल्ली, अंबाला और लाहौर होते हुए अमृतसर पहुँचे। जहाँ कहीं वे गये, उन्होंने वहाँ के मुख्य दर्शनीय स्थान देखे, साधुओं का सत्संग किया और आध्यात्मिक विषयों पर विद्वानों से विचार-विमर्श किया। नगेन्द्रनाथ अपने बड़े भाई की तलाश में दिल्ली गये पर उन्हें वहाँ न पाकर निराश लौटे। दोनों भाइयों का पुनर्मिलन न हो सका क्योंकि जब देवेन्द्रनाथ वापस लौट रहे थे उन्हीं दिनों नगेन्द्रनाथ की मृत्यु हो गई।

देवेन्द्रनाथ अमृतसर में दो महीने रहे। वे रोज वहाँ स्वर्ण मंदिर जाते और सिखों के गुरु ग्रंथ साहब के पाठ-पूजन में शामिल होते। सिखों ने पाया कि वे गुरुनानक के प्रबल प्रशंसक हैं तथा 'जपजी' के भक्त, सिखों की धर्मप्रवणता के लिए उनके मन में गहरा आदर था, इससे उनके साथ मिलना-जुलना देवेन्द्रनाथ को प्रिय था।

२८ अप्रैल, १८५७ को महर्षि शिमला के लिए रवाना हुए तथा वहाँ एक वर्ष आठ महीने रहे। वे जब वहाँ थे तभी सिपाही विद्रोह भड़क उठा और एक बार ऐसा लगा कि शिमला पर बागी गुरखे कब्जा कर लेंगे। लेकिन कोई दुर्घटना नहीं

हुई तथा देवेन्द्रनाथ सुखपूर्वक हिमालय की भव्य छाया में शांति, विश्राम और चिंतन-मनन में लीन रहे। वे पूरा दिन ध्यान और प्रार्थना में बिताते, बीच-बीच में धार्मिक-दार्शनिक ग्रंथों का पारायण करते। पहाड़ियों में कवि हाफिज उनका सतत साथी रहा। उसके दीवान की प्रसिद्ध गजलों की पंक्तियाँ हमेशा उनकी जुबान पर रहतीं।

संभवतः अपनी किसी आंतरिक विवशता के कारण वे बारंबार हाफिज के प्रेरणा-स्रोत का सहारा लेते थे। मानो उपनिषदों की निहित प्रशांत, मौन और गंभीर ब्रह्मविद्या ईश्वर के प्रति चरम अनुराग के भाव के बिना अधूरी रहती थी। हाफिज का काव्य वही आनन्दानुभूति प्रदान करता था। शायद पूरे बाङ्ला साहित्य में देवेन्द्रनाथ से अधिक फारसी सूफी कवि हाफिज की सराहना करने वाला अन्य कोई नहीं मिलेगा।

हिमालय की उपत्यकाओं में निवास के दौरान महर्षि के दैनंदिन जीवन का ब्यौरा देना संभव नहीं है। न ही इस अध्ययन के लिए यह ज़रूरी है कि उन्होंने शांति और सौंदर्य की खोज में हिम-मंडित पहाड़ियों में जिन स्थानों की यात्रा की, उनकी सूची दी जाए। पर वे प्रकृति को किस दृष्टि से देखते थे यह बताए बगैर इस यात्रा का प्रसंग अधूरा रह जाएगा : प्रकृति को देखने की दृष्टि, कवि के उन्मुक्त भाव से उस अपार सौंदर्य के प्रति उनकी प्रतिक्रिया, गद्य होते हुए भी हर पंक्ति में झलकता रूप, रंग और समृद्ध कल्पना का उनका आंतरिक बोध, जिसमें उन्होंने चतुर्दिक् फैले दृश्यों को अंकित किया है—यह सब एक 'बड़े' कलाकार को उजागर करते थे। दुर्भाग्य है कि वे अपने व्यक्तित्व के इस पक्ष को अधिक रेखांकित नहीं कर पाये। धर्म तथा तत्त्वचिंतन में अत्यासक्ति के कारण उनकी कलात्मक प्रतिभा अधिक सामने नहीं आ सकी। हिमालय के प्रभूत विश्राम और एकांत में ही वे अपनी उस प्रसुप्त कला-आत्मा पर ध्यान दे सके। स्पष्ट ही उस विश्राम और प्रशांतता ने उनके कलाबोध को कुछ तीखा किया, और उसकी माँग पर उन्होंने उस पर कुछ ध्यान दिया।

मैं यहाँ उनकी 'आत्मजीवनी' से एक-दो अंश उद्धृत करूँगा जिनमें उन्होंने शिमला से कोई ६४ मील दूर सुंगरी शिखर की चढ़ाई का वर्णन किया है। मुझे पता नहीं कि मेरा दुर्बल अनुवाद कहाँ तक उनके वर्णन का कलात्मक सौंदर्य उभार सकेगा :

"भाँति-भाँति के फूल, श्वेत, लाल, पीले, नीले और सुनहरे, चारों तरफ से मुझे लुभा रहे हैं। उनका सौंदर्य और मार्दव, उनकी अमिश्रित विशुद्धता से प्रतीत होता है मानो पावन परमब्रह्म उनमें व्याप्त हैं। यद्यपि इन फूलों में उतनी गंध नहीं है जितना रूप है, पर एक और किस्म का फूल है, सफेद गुलाब-सा, जो इन जंगलों में खिला हुआ है और जिसकी शाखाओं ने इस पूरे प्रदेश को भीनी-भीनी सुगंध

से आपूरित कर रखा है। कहीं-कहीं चमेली के फूल अपनी गंध बिखेर रहे हैं, जहाँ-तहाँ झरबेरिया हैं मानो लाल कमल के टुकड़े बिखरे हुए हों। मेरे साथ आए एक नौकर ने मुझे फूलों-भरी एक डाल दी जो उसने एक जंगली लतर से तोड़ी थी इतनी सुंदर फूलों वाली लतर मैंने जीवन में पहले कभी नहीं देखी। मेरी आँखें विस्फारित हो गयीं, उनके सौंदर्य पर, मेरा हृदय विस्तीर्ण हो गया। मुझे लगा कि जगत् धातृ माँ ने अपने वरद हस्त से उन छोटे-छोटे सफेद फूलों को छुआ है। इन जंगलों में इन फूलों का आस्वाद कौन लेगा? कौन इनके सौंदर्य को देखेगा? फिर भी ईश्वर ने कितनी चिंता और स्नेह से इन लतरों को सजाया है, उनमें सुगंध भरी है, लावण्य दिया है और ओस की बूँदों से कोमल बनाया है! इस दृश्य ने मेरे हृदय में उसकी शाश्वत कृपा और स्नेह की भावना जगा दी। हे प्रभु, आप जब इन नन्हें फूलों पर इतने कृपालु हैं तो हमारे प्रति आपकी अनुकंपा कितनी अधिक होगी।" (अध्याय ३५)

या फिर उसी अध्याय से मैं यह अंश उद्धृत करूँ जिसमें उन्होंने सुंगरी शिखर से अपने उतरने का वर्णन किया है : "इस पर्वत पर देवल देवदास वृक्षों का वर्चस्व है। नहीं, इसे वन नहीं कहना चाहिए, यह बगीचे से भी अधिक सुंदर है। देवदारु का वृक्ष फर वृक्ष की तरह ऊँचा और सीधा होता है, उसकी शाखाएँ पेड़ के शिखर तक फैलती चली गई हैं। घनी पत्तियाँ फर वृक्ष जैसी, पर प्रत्येक पत्ती सुई के बराबर लंबी - यह इसका आभूषण है। शाखाएँ चतुर्दिक् पत्तियों से ढकी और एक बड़े पक्षी की तरह हवा में पंख तौलती हुई-सी, शीत में भारी बर्फ से आच्छादित हो जाने वाली, पर उनकी पत्तियाँ बर्फ से न तो सिकुड़ती हैं न गलती हैं, बल्कि अधिक ताजा हो जाती हैं और कभी अपनी हरियाली नहीं छोड़तीं। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है? ईश्वर का कौन-सा काम अनोखा नहीं है। ये पेड़ सैनिकों की तरह कतारों में खड़े हैं और नीचे घाटी से लेकर ऊपर शिखर तक आज्ञाकारी की तरह हाथ बाँधे खड़े हैं। इतनी भव्यता और सौंदर्य वाला कोई दृश्य क्या किसी मनुष्य-निर्मित उद्यान में समा सकता है?"

एक और उद्धरण दूँगा और उससे महर्षि के गद्य की काव्यात्मकता का अंदाज़ा दिलाने का मेरा काम पूरा हो जाएगा। यह अंश भी आत्मकथा से है, पर प्रसंग तब का है जब वे मैदानों में अमृतसर के पास रह रहे थे : "अमृतसर में रामबागान के पास मुझे जो मकान मिला वह जर्जर अवस्था में था जिसका बगीचा असंयोजित था; पेड़ों का गुल्फ एक जंगल-सा था। पर नया उत्साह, नयी आँख हर वस्तु में ताजगी, नयापन और सौंदर्य देखने लगी। भोर में जब सूर्योदय के समय मैंने उस बगीचे में चहलकदमी की, जब सफेद, पीले, गुलाबी 'पाँपी' फूलों ने ओस के आँसू टपकाए, जब रुपहले-सुनहरे घास के फूलों ने बगीचे की धरती पर मखमली कालीन बिछा दिया, जब स्वर्गिक हवाओं ने बाग में मधु संचार कर

दिया, जब कुछ दूर से बगीचे में पंजाबी गीतों की मधुर ध्वनि सुन पड़ी, तो वह बाग मुझे गंधर्वों के आवास-सा प्रतीत हुआ। किसी-किसी दिन पास के जंगलों से मोर आ जाते और मेरे पहली मंजिल के कमरे की छत पर बैठ जाते और उनकी रंग-बिरंगी लंबी पूँछें दूप में नहाती हुई नीचे धरती को छूती रहतीं। कभी-कभी वे छत से हटकर बगीचे में घूमने लगते···एक दिन आकाश में बादल थे और लीजिए ! मोर अपने पंख सिरों पर फैलाकर नाचने लगे। कैसा अद्भुत दृश्य था वह ! यदि मैं बाँसुरी बजाना जानता होता तो मैं उनके नृत्य की लय पर उसे बजाता। मैंने जाना कि कवियों का यह कहना सही था कि बादलों को देखते ही मोर नाचने लगते हैं। 'नृत्यंति शिखिनो मुदा।' यह कोरी कल्पना नहीं है।" (अध्याय ३२)

ब्रह्मो आंदोलन में फूट

देवेन्द्रनाथ १५ नवंबर, १८५८ को हिमालय-प्रवास से लौटकर आये। आत्मकथा इसी बिंदु पर समाप्त होती है। उस समय वे केवल ४१ वर्ष के थे। उन्हें अभी इस धरती पर ४७ वर्ष और जीना था, पर वे इतने बड़े जीवन-खंड के बारे में चुप रहे। आत्मकथा उनकी हिमालय-यात्रा के बाद नहीं बल्कि जीवन के अंतिम दिनों में लिखी गई थी। इसके अधिकांश अध्याय उन्होंने प्रियनाथ शास्त्री को बोलकर लिखाए, जो उन दिनों उनके साथ नियमित रूप से रहते थे। पंडित से जैसा कहा गया वैसा उन्होंने लिखा।

महर्षि ने अपनी जीवन-कथा में इतना बड़ा अंतराल क्यों छोड़ा ? हम केवल अनुमान लगा सकते हैं।

इस मौन के दो कारण हो सकते हैं। पहला, अपनी लंबी पहाड़ी यात्रा से कलकत्ता लौटने के बाद उन्हें ऐसा ब्रह्मो समाज मिला जिसका स्वरूप बिल्कुल बदला-बदला-सा था। उस संस्था में नये लोगों की आवक के कारण गतिविधियाँ बढ़ी हुई दीख रही थीं। केशवचंद्र सेन के नेतृत्व में उत्साही और समर्पित अनेक नौजवानों ने समाज में गहरी रुचि लेनी शुरू कर दी थी और उसमें एक नयी प्रगतिशीलता फूंक दी थी।

केशवचंद्र सेन कोई साधारण धर्मप्रेमी नवयुवक नहीं थे बल्कि उनमें किसी भी प्रिय धार्मिक-सामाजिक सुधार के लिए कर्म करने की अपार क्षमता, कल्पना और उत्साह था। देवेन्द्रनाथ की तरह वे भी ईशानुरक्त थे, अंतर यह था कि ईसाई धर्म की शिक्षाओं का उन पर गहरा असर था और वे ईसा को अपना सबसे बड़ा आदर्श मानते थे। पाप की ईसाई अवधारणा को वे मानते थे जिसे ब्रह्मो समाज के नये-पुराने भक्तों में भी प्रविष्ट कराना चाहते थे। केशवचन्द्र के जादुई व्यक्तित्व की ओर असंख्य महाविद्यालयीन छात्र-युवक अबाध्य रूप से खिंचे चले आते थे। उनकी वक्तृता-शक्ति से यह आकर्षण और भी बढ़ जाता था। राजनीतिक क्षेत्र में विख्यात रामगोपाल घोष को छोड़कर १८६०-७० के बंगाल में केशवचंद्र से अधिक समर्थ वक्ता मिलना मुश्किल था।

देवेन्द्रनाथ ने केशवचंद्र और उनके युवा अनुयायियों का ब्रह्मो समाज में खुले दिल से स्वागत किया। केशवचंद्र के नेतृत्व के गुणों पर उन्हें भारी विश्वास था। उन्हें आशा थी कि जिस ब्रह्मो समाज के लिए उन्होंने सर्वस्व दाँव पर लगाया है और जो उन्हें प्राणों से भी प्रिय है, केशवचंद्र के नेतृत्व में उसकी शीघ्र ही दिन-

दूनी रात-चौगुनी प्रगति होगी। समाज के हितों की चिंता के अलावा केशव को वे व्यक्तिगत रूप से भी पसंद करते थे तथा यह तथ्य अनेक प्रकार से प्रकट भी करते थे। उन्होंने समाज का बहुत-सा काम, विशेष रूप से प्रचार-कार्य युवा केशव तथा उसके अनुयायियों को सौंप दिया, तथा उतनी अल्पायु में ही उन्हें आचार्य तक बना दिया जबकि संस्था के वरिष्ठ सदस्य इसके विरुद्ध थे।

ब्रह्मो समाज के इतिहास से जुड़ी इस समय की सभी बातों से ज्ञात होता है कि देवेन्द्रनाथ सचमुच केशवचंद्र तथा उनके अनुयायियों के हितैषी थे। इसीलिए उन्होंने समाज सेवा तथा धार्मिक सुधार के नये विचारों से मुक्त इन युवकों का खुले दिल से स्वागत किया था। पर दोनों पक्षों के बीच यह प्रगाढ़ता जल्दी ही समाप्त हो गयी। अनिवार्य संघर्ष हो ही गया।

यहाँ भी पहले की ही तरह संघर्ष का कारण अनुदारता और प्रगतिशीलता या अनुगामिता की शक्तियों का झगड़ा था। एक ही वस्तु की व्याख्या दोनों पक्ष अलग-अलग करते थे। दोनों विरोधी दृष्टियों की कशमकश में आयु का भी हाथ था। वृद्धावस्था तो धीरे ही चलना पसंद करती है जब कि युवावस्था तत्काल परिवर्तन माँगती है। इसी बुनियादी कारण से दोनों के स्वभावों का टकराव सामने आया। समाज के आचार्य जनेऊ धारण करें या नहीं, इससे शुरुआत हुई। फिर एक के बाद एक नये प्रश्न उठते गए—ब्रह्म समाजियों के परिवार प्रार्थना सभाओं में एकत्र हों या नहीं ? नारी शिक्षा, विधवा विवाह, विभिन्न जातियों में आपसी विवाह, 'इंडियन मिरर' नामक पत्र का स्वामित्व, और ऐसे बहुतेरे सवाल उठे। इन दुःखद घटनाओं का ब्यौरा देना इस अध्ययन के क्षेत्र से बाहर की चीज है। पर सबसे प्रमुख बात यह रही कि १८६४ तक दोनों गुटों का टकराव सार्वजनिक रूप ले चुका था। संस्था के भीतर गहरा मानसिक दुराव आ गया था। घटनाक्रम बहुत दर्दनाक था। वरिष्ठ लोगों के समूह में देवेन्द्रनाथ, अयोध्यानाथ पकराशी, बच्चाराम चटर्जी, राजनारायण बोस जैसे पुरोधा थे; जबकि युवा दल में केशवचंद्र, भाई प्रतापचंद्र मजूमदार, विजयकृष्ण गोस्वामी, भाई गौर गोविंद राय उपाध्याय, अघोरनाथ गुप्त तथा अन्य अनम्य उग्र युवक थे। ऐसा नहीं है कि दोनों पक्षों में सुलह के प्रयास न हुए हों, पर सुलह की संभावना निरंतर कम होती गयी। १८६५ में ब्रह्मो समाज स्पष्टतः दो धड़ों में बँटा हुआ था, परस्पर अवज्ञा करने पर तुले हुए; लेकिन तब तक विधिवत् विभाजन नहीं हुआ था। अंततः १८६६ के अंत में अब तक टाला गया विभाजन हो ही गया—दो संस्थाएँ बन गयीं : (१) आदि ब्रह्मो समाज, और (२) ब्रह्मो समाज ऑफ इंडिया। इस तरह भारत में ब्रह्म समाज आंदोलन का एक पुराना अध्याय खत्म हुआ और नया शुरू हुआ। जो लोग इस फूट के बारे में अधिक जानना चाहते हैं वे पंडित शिवनाथ शास्त्री-कृत 'हिस्ट्री ऑफ ब्रह्मो समाज' (प्रथम खंड) और अजितकुमार

चक्रवर्ती-कृत महर्षि देवेन्द्रनाथ की जीवनी (बाङ्ला) में देख सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के विषय और आकार को देखते हुए इस विषय पर अधिक कुछ कहना संभव नहीं है।

इस कलह की अवधि में नये गुट द्वारा संचालित पत्र-पत्रिकाओं में देवेन्द्रनाथ पर अनुदारता, निरंकुशता, पक्षपात इत्यादि के आरोप लगाये जाते रहे यह गौर तलब है। लेकिन देवेन्द्रनाथ ने कभी अपनी सफ़ाई में कोई वक्तव्य नहीं दिया। उन्होंने निरंतर एक गरिमापूर्ण मौन साधे रखा। तपस्वी की तरह उन्होंने अपार धैर्य से सारा कष्ट झेला—वे सभी का भला चाहते थे और बुरा किसी का नहीं। इस घटना से उस व्यक्ति की श्रेष्ठता का पता लगता है। यह कोई संयोग मात्र न था कि जिस 'ब्रह्मो समाज ऑफ इंडिया' के सदस्य कुछ समय पहले तक उनके शत्रु थे और वैमनस्य के साथ एकजुट थे, उन्होंने ही देवेन्द्रनाथ को 'महर्षि' की उपाधि प्रदान की। विधिवत् विभाजन के एक वर्ष के भीतर ही (१८६७) यह अप्रत्याशित घटना हो गई। वैचारिक मतभेद के कारण युवकों का देवेन्द्रनाथ से चाहे जो मनमुटाव रहा हो, पर इस घटना से प्रकट है कि देवेन्द्रनाथ के प्रति इन युवा ब्रह्म समाजियों के मन में अपार श्रद्धा और सम्मान का भाव था।

महर्षि द्वारा अपने पिछले विरोधियों का उत्तर न देकर मौन रहना अपने आप में सब कुछ कह देता है। शायद हम अब समझ सकते हैं कि उन्होंने आत्मजीवनी में ब्रह्मो समाज की इस फूट से जुड़े अपने जीवन-प्रसंग का उल्लेख क्यों नहीं किया। वस्तुतः जहाँ उन्होंने देखा कि घटनाओं का मोड़ कुरूप होने वाला है, वहीं वे ठहर गये। स्वभाव और संस्कार से ही वे दूसरों की अशोभन आलोचना के विरुद्ध थे।

दूसरे, व्यवहारतः महर्षि उस फूट के बाद सार्वजनिक जीवन से विरत हो गये थे। परवर्ती समय—तीन लंबे दशक—यात्रा, मौन ध्यान-चिंतन-मनन, लेखन, बुलाने पर यदा-कदा ब्रह्मो समाज में व्याख्यान, विश्राम इत्यादि में बीता। उनके जीवन के अंतिम दस वर्ष अत्यंत रुग्णता में बीते। इसलिए अपने जीवन के बारे में कुछ अधिक कहने को नहीं था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने पाठकों को अपने आंतरिक आत्मिक जीवन का, आंतरिक संघर्षों के उतार-चढ़ावों का, अंधकार के भीतर से होकर अंततः प्रकाश की अमित ऊँचाइयों पर पहुँचने का पर्याप्त परिचय दे दिया था। संभवतः इस तरह प्रायः पूर्ण-वर्णित विषय पर कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बात जोड़ना शेष न था।

विश्राम, अवकाश, अध्ययन-मनन तथा समय-समय पर यात्राओं के जीवन के बारे में शायद बहुत आकर्षक कहानी नहीं बनती। कहानी जहाँ रुक गयी वह ठीक ही हुआ।

जीवन का उत्तरार्द्ध

पहले ही यह कहा जा चुका है कि महर्षि देवेन्द्रनाथ के जीवन के अंतिम दिन, जो कि तीन दशक से अधिक की अवधि थी, यात्रा, चिंतन-मनन, अध्ययन और विश्राम में बीते। वृद्धावस्था में प्राप्त अवकाश का उसी तरह उपयोग हुआ जिस तरह अक्सर होता है, हालाँकि व्यक्ति-व्यक्ति की स्थितियों-परिस्थितियों के अनुसार थोड़ा-बहुत अंतर होता है। महर्षि ने अपने इस जीवन-खंड को पूर्णतः सनातन सत्यों की खोज और आत्मसाक्षात्कार में व्यतीत किया। ऊपरी सतह पर इस आंतरिक विद्वेलन की कोई लहर भी नहीं दिखायी देती थी। जैसा कि उनके जीवनीकार अजितकुमार चक्रवर्ती ने लिखा है : "उनके अंतिम दिनों का इतिहास ऊपरी धरातल पर दिखा सकना असंभव है क्योंकि मूलतः वह एक आंतरिक इतिहास था। सामाजिक जीवन का कोई आसार भी इसमें नहीं है।"

फिर भी इस इतिहास का यथासंभव पुनराख्यान ज़रूरी है, चाहे महज इसलिए कि इससे एक सोद्देश्य तथा उदात्त जीवन का चक्र पूरा हो सकेगा। विराट् कल्पना और भव्य कलात्मकता वाले किसी चित्र को अंतिम स्पर्श देने की इच्छा किसको नहीं होगी, जिसके बिना वह पूरा नहीं प्रतीत होता !

१८६८ में देवेन्द्रनाथ 'मरी' पहाड़ियों में गये, फिर वहाँ से कश्मीर। उन दिनों उनके कई पत्रों में इस यात्रा का वर्णन मिलता है। कलकत्ता वे लौटे ज़रूर पर साल भर बाद उन्हें फिर पहाड़ों का आकर्षण खींच ले गया। घुमक्कड़ की तरह वे हिमालय की घाटियों में एक से दूसरी जगह जाते रहे और अंत में 'धर्मशाला' में ठहरे। पुनः वे मैदानों में आये। कलकत्ता में उनके निवास के दौरान (१८७१-७२) भारतवर्षीय ब्रह्मो समाज के सदस्यों से उनकी तकरार हुई। कारण था केशवचंद्र सेन द्वारा ईसा की कथित अति-भक्ति और ब्रह्मो विवाह विधेयक १८७२। देवेन्द्रनाथ व्यवहारतः सार्वजनिक जीवन से विरत हो चुके थे; अतः उन्होंने इन विवादों में अधिक न उलझकर यथाशीघ्र अपना पीछा छुड़ा लिया।

१८७३ के बाद से १०-१२ वर्ष तक महर्षि अधिकांश समय पास या दूर की यात्राओं में बिताते रहे। १८७३ में वे तीसरी बार हिमालय गये और इस बार अपने साथ १२ वर्ष के रवीन्द्रनाथ को लेते गये। कुछ ही पहले बालक का उपनयन संस्कार हुआ था। घुटे हुए सिर और भगवा वस्त्रों में वह बालक प्राचीन काल के आश्रमों का ब्रह्मचारी-सा जान पड़ता था। महर्षि ने जब बेटे से हिमालय

की यात्रा पर चलने को कहा तो वह फूला न समाया, रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'जीवन-स्मृति' में पिता के साथ पहाड़ों की इस यात्रा का विस्तृत वर्णन किया है, जिसमें अपने मनस्वी पिता के प्रति आदर-भय-श्रद्धा और स्वयं पर निश्छल विनोद के प्रसंग भी हैं।

रास्ते में वे सर्वप्रथम बोलपुर में कुछ दिन रुके। इस स्थान का ठाकुर-परिवार के परवर्ती इतिहास से गहरा संबंध है अतः इस पर कुछ विशेष ध्यान देना उचित होगा।

बोलपुर कलकत्ता से कोई १०० मील दूर बीरभूम ज़िले का एक स्थान है। १८६३ में देवेन्द्रनाथ ने यहाँ कुछ जमीन खरीदी थी जहाँ आगे चलकर रवीन्द्रनाथ का प्रसिद्ध शांति निकेतन आश्रम बना। पृष्ठभूमि यह थी। देवेन्द्रनाथ रायपुर के सिन्हा परिवार के यहाँ प्रायः जाते थे जो कि बीरभूम जिले के एक प्रभावशाली जमींदार थे। ऐसे एक मौके पर जब वे बोलपुर होकर रायपुर जा रहे थे, उन्हें बोलपुर के पास आम के कुंजों और वन्य हरियाली से भरा एक भूखंड मिला। उसे 'भुवनडांगर मठ' कहते थे और आज भी इसी नाम से वह मशहूर है। उन दिनों वह इलाका डाकुओं और लुटेरों का अड्डा था और लोग दिन में भी वहाँ से गुजरने में डरते थे। उस लंबे-चौड़े क्षेत्र को देख महर्षि को भूमा का, विराट्ता का अनुभव हुआ और एक सप्तपर्ण पेड़ के पास एकांत स्थान में उन्होंने अपनी पालकी रुकवा दी। यहाँ उन्हें परम शांति का अनुभव हुआ। उन्हें वह स्थान बहुत पसंद आया तथा तत्काल उसे खरीदना तय कर लिया। यह कोई २० बीघा ज़मीन थी। इसका स्वामी रायपुर का सिन्हा परिवार ही था।

उसे खरीदकर महर्षि ने वहाँ एकान्त में ब्रह्म की पूजा के लिए मंदिर बनवाया उसके २३ साल बाद ८ मार्च, १८८६ को देवेन्द्रनाथ ने उस जमीन की व्यवस्था तीन न्यासियों को सौंपते हुए एक न्यास बना दिया। निर्देश यह दिया कि उस ज़मीन पर निराकार ब्रह्म की उपासना के उद्देश्य से ही एक आश्रम बनवाया जायगा। न्याय-पत्र में व्यक्त महर्षि की आकांक्षा अक्षरशः पूरी हो गयी क्योंकि उसी स्थान पर रवीन्द्रनाथ ने विश्वविख्यात 'विश्वभारती' शांतिनिकेतन की स्थापना की, जिस विश्वविद्यालय का आदर्श वाक्य है। 'शांतम् शिवम् अद्वैतम्'; और जहाँ विश्व मानो एक ही नीड में रहता है—'यत्र विश्वम् भवत्येकनीडम्'।

तो यह थी बोलपुर और शांतिनिकेतन आश्रम की कथा। महर्षि रवीन्द्रनाथ के साथ उत्तर-पश्चिम दिशा में यात्रा पर चल पड़े। अमृतसर पहुँचे और रास्ते में साहेबगंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर इत्यादि में ठहरे। पिछली बार की तरह इस बार भी देवेन्द्रनाथ अक्सर स्वर्ण मंदिर जाते और सिक्खों से मिलते-जुलते। अमृतसर से वे डलहौजी आए तथा बकरोटा में पड़ाव डाला। 'जीवन-स्मृति' इस स्थान के संस्मरणों से भरी हुई है। कई महीने बाद रवीन्द्रनाथ को

घर भेज दिया गया, पर महर्षि हिम-मंडित पर्वतों की यात्रा पर आगे बढ़ गए।

मार्च १८७५ में देवेन्द्रनाथ की पत्नी श्रीमती शारदा देवी का निधन हो गया। पत्नी के जीवन के अंतिम क्षणों में देवेन्द्रनाथ हिमालय से लौट आए थे। इस बिछोह की टीस निश्चय ही गहरी थी पर उन्होंने कुछ प्रकट नहीं होने दिया। अंतिम संस्कार करने के बाद वे फिर बकरोटा के पर्वतीय शिखर पर लौट गए जहाँ वे कोई दो वर्ष रहे तथा बीच-बीच में मैदानों में आते रहे। १८७७ में, शांतिनिकेतन में कुछ समय बिताकर वे अपने दामाद शरदप्रसाद गांगुली के साथ चीन गए। इस यात्रा का कोई आलेख नहीं मिलता। मित्रों और संबंधियों के लिए वे चीन से अनेक उपहार लाए।

इस तरह उनके दिन कुछ यहाँ, कुछ वहाँ बीत रहे थे, पर कलकत्ता में नहीं। वे कुछ समय मसूरी रहे। पंडित प्रियनाथ शास्त्री उनके साथ थे। उन्होंने लिखा है कि दिन-दिन भर साधना-उपासना के बीच वे हाफिज की गजलें अक्सर गुनगुनाया करते थे।

१८८०-९० में देवेन्द्रनाथ का स्वास्थ्य बहुत गिर गया। स्वास्थ्य-लाभ के लिए वे कुछ दिन चिनसुरा जाकर रहे जो बम्बई के पास समुद्र तट पर है, और वे पुनः चिनसुरा गए। दार्जिलिंग भी कुछ दिन रहे, पर स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ।

अंतिम दस वर्षों में वे कलकत्ता में पार्क स्ट्रीट में किराये के एक मकान में रहे। स्थिति बिगड़ती गयी। अधिकांश समय वे मौन-चिंतन और प्रार्थना में बिताते थे। अपने रुग्ण पिता की सेवा-सुश्रूषा में लगी सौदामिनी देवी ने उन दिनों के बारे में लिखा है : "पिताजी सुबह से शाम तक सोफे पर एक ही मुद्रा में बैठे रहते और ईश्वर का ध्यान करते रहते। स्नान और भोजन के समय के अलावा सारा समय ईशोपासना में बीतता। यदि कभी हम किसी काम से उनके पास पहुँच जाते तो वे चौंककर कहते, 'मैं कहाँ था? तुम मुझे कहाँ ले आयीं?' उनके ध्यान में विघ्न डालने में हमें लज्जा आती।"

उनके बेटों में रवीन्द्रनाथ, जो तब 'आदि ब्रह्मो समाज' के सचिव थे, उनके बहुत निकट आये जो अक्सर उनसे ब्रह्मो समाज के बारे में सलाह और मार्गदर्शन लेते थे।

'समाज' के आदि, साधारण या नव विधान, सभी शाखाओं के नेता उनसे हाल-चाल पूछने और आशीर्वाद लेने के लिए अवश्य जाते[1] ब्रह्मो आंदोलन के

१. ब्रह्मो समाज तब तक वैचारिक मतभेदों के कारण उक्त तीन शाखाओं में बँट गया था। पहले विभाजन में, जैसा बताया जा चुका है, आदि ब्रह्मो समाज और भारतवर्षीय ब्रह्मो समाज, ये दो संस्थाएँ बनी : दूसरा विभाजन कूच बिहार विवाह के उग्र विवाद पर कुछ वर्ष बाद हुआ जिससे भारतवर्षीय ब्रह्मो समाज 'साधारण ब्रह्मो समाज', और 'नव विधान' में बँट गया।

पुरस्कर्ता-पुरोधा को सार्वजनीन मान्यता मिल चुकी थी, पुराने मन-मुटाव समाप्त हो चुके थे।

अस्तु राजनारायण बोस, शिवनाथ शास्त्री, उमेशचंद्र दत्त, विपिनचंद्र पाल, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनंदमोहन बोस, और अन्य सभी नेता उनसे सम्मानपूर्वक मिला करते थे। केशवचंद्र की मृत्यु हो चुकी थी (१८८३)।

अंतिम दिनों में महर्षि ने 'यति' के आदर्श की पूर्ति के लिए घर से दूर, निरंतर भजन-ध्यान करते हुए, सांसारिक झंझटों से अलग अपना समय बिताने की चेष्टा की थी। जन्म-मृत्यु के चार प्रमुख चरणों में यह अंतिम आश्रम था। पर ज्यों-ज्यों स्वास्थ्य बिगड़ा और बहुत गंभीर हो चला, तब उन्हें अलग रखना संभव न रहा, वापस उन्हें पैतृक घर जोड़ासाँको ठाकुरबाड़ी ले जाया गया जहाँ १९ जनवरी, १९०५ को उन्होंने देह त्याग दी। एक सुदीर्घ, उदात्त, और महान् जीवन, पूर्णतः ईश्वरानुराग और देशवासियों की सेवा में समर्पित जीवन, समाप्त हो गया।

साहित्यिक मूल्यांकन

देवेन्द्रनाथ की रचनाओं के साहित्यिक गुणों को समुचित रूप में रेखांकित नहीं किया गया है। उनकी समृद्ध धार्मिक विषय-वस्तु प्रायः कलात्मक स्तर पर उनके समुचित मूल्यांकन में बाधक बनी है। वस्तुतः द्रष्टा देवेन्द्रनाथ लेखक देवेन्द्रनाथ पर छा गये हैं। बंगाल के लोग उन्हें प्रमुख रूप से ईश्वर-भक्त मनुष्य, आध्यात्मिक नेता, दार्शनिक के रूप में देखते हैं। यह सही भी है क्योंकि इन्हीं भूमिकाओं में उन्होंने अपना श्रेष्ठतम योगदान समाज को दिया है। पंडित शिवनाथ शास्त्री के अनुसार "महर्षि देवेन्द्रनाथ इस देश की महानतम धार्मिक प्रतिभाओं में से एक थे। वह सचमुच ही प्राचीन ऋषि-परंपरा में आते हैं।" उनका यह वर्णन सटीक है, लेकिन दुर्भाग्य से उनके धार्मिक व्यक्तित्व पर इतना अधिक ज़ोर दिया गया कि उनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू प्रायः छिप जाता रहा—जो उतना उल्लेख्य न हो, तब भी गंभीर विचार की अपेक्षा रखता है। मेरा आशय उनके साहित्यिक व्यक्तित्व से है।

बाङ्ला गद्यकारों के पुरस्कर्ताओं में प्रायः राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, अक्षयकुमार दत्त, भूदेव मुखर्जी तथा एक-दो अन्य नाम लिये जाते हैं। इसमें शक नहीं कि बाङ्ला गद्य के शैशवकाल में इन्हीं लोगों ने उसे पाला-पोसा है। पर हम कलात्मक शैली के आधार पर विचार करें तो देवेन्द्रनाथ का योगदान भी इनमें से किसी से कम नहीं है। राममोहन का गद्य विवेचनात्मक था मुख्यतः उन्होंने हिन्दू धर्म तथा वेदांत के मूल तत्त्वों की व्याख्या करने के लिए उसका प्रयोग किया। विद्यासागर ने उस बाङ्ला भाषा को सौष्ठव एवं गरिमा प्रदान की जो अब तक प्रायः ईसाई मिशनरियों और उनके कहने पर चलने वाले बाङ्ला लेखकों की चेरी थी। अक्षयकुमार मूलतः एक बुद्धिगम्य गद्यकार थे जो अभिव्यक्ति की बारीकियों या शैली के मँजाव की ज़्यादा चिंता नहीं करते थे। भूदेव ने हिन्दू सामाजिक एवं गार्हस्थ्य विषयों पर अद्‌भुत स्पष्टता से लिखा, लेकिन अक्षयकुमार की तरह उन्हें भी शैली रचने का बहुत चाव न था।

उक्त लेखकों के समकालीनों में अब केवल देवेन्द्रनाथ बचे। देवेन्द्रनाथ ने बाङ्ला भाषा में न केवल सौष्ठव और गरिमा का समावेश किया, बल्कि उसमें अब तक अनुपस्थित एक नयी खूबी—काव्यात्मकता—भी भर दी। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, उनके मानसिक गठन में रूप और सौन्दर्य की अद्‌भुत संवेदना थी। धर्म की किसी गूढ़ प्रस्थापना इत्यादि पर बात करते समय वे दर्शन और

अमूर्त्तता के स्तर पर होते थे; पर प्रकृति तथा उसके सौन्दर्य का वर्णन करते समय ऐंद्रिक तत्त्व छा जाता था। मैंने पिछले अध्याय में उनकी 'आत्मजीवनी' के तीन अंश उद्धृत किए, जो बताते हैं कि प्रकृति के विविध रूपों पर उनकी गहरी दृष्टि थी। अनुवाद में मूल का सौन्दर्य पूरा नहीं आ पाता, पर अनुवाद से भी यह प्रकट होगा कि रूप एवं रंग की उन्हें कितनी गहरी पकड़ थी। विविध प्राकृतिक दृश्यों को वे कितनी कुशलता से चित्रित कर सकते थे। अन्य अनेक स्थलों पर उनकी रचनाओं में ऐसे ही प्रमाण मिलेंगे, खासकर हिमालय, 'मरी' पहाड़ियों और कश्मीर से लिखे पत्रों में जो उन्होंने राजनारायण बोस, प्रियनाथ शास्त्री, गजेन्द्रनाथ टैगोर, श्रीकांत सिन्हा इत्यादि को लिखे थे।

जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्हें एकाग्र और व्यापक, दोनों स्तरों पर गतिशील होना प्रिय था। व्यापक धरातल पर गतिविधियों का प्रमाण असंख्य समाज-सुधारक कार्यों, ब्रह्मो समाज के संगठन इत्यादि में मिलेगा। पर जब वे गहरे ध्यान या चिंतन-मनन में निमग्न होते—प्रतीकार्थ में ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए—तो उनकी एकाग्र गतिशीलता प्रकट होती थी। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह एकाग्रता ही उनका वास्तविक स्वभाव था। इस एकाग्र या ऊर्ध्व गति का अभिन्न अंग था उनकी 'प्रकाश' की अधिकाधिक 'प्रकाश' की नित्य आकांक्षा। गेटे की तरह ऊर्ध्व दृष्टि का यह गुण उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मिलेगा—यही खूबी रवीन्द्रनाथ ने पूर्णता में अर्जित की। उपनिषदों की आत्मा में, जिनके कि देवेन्द्रनाथ आजीवन अध्येता रहे, गहरी पैठ के कारण शायद यह गुण उनमें आया। सौर या चांद्र, प्रकाश और उसकी भव्यता उन्हें हमेशा मुग्ध करती रही। उदाहरण के लिए उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रह्मोधर्मेर व्याख्यान' के ये दो उल्लेख्य प्रसंग लें :

सूर्य के संबंध में : "भोर में जब सूर्य सोए हुए प्राणियों को सचेत-जाग्रत करने के लिए, सौन्दर्यहीन वस्तुओं को सुंदर बनाने के लिए उदित होता है, वे (परम-भक्त) उन देदीप्यमान सूर्य में सर्वपूज्य ब्रह्म के दर्शन करते हैं। 'उन्हीं का प्रकाश' है जो भोर होने पर हमारे मन को प्रकाशित कर देता है। 'वही' जो सूर्य की आत्मा हैं, आत्माओं की आत्मा हैं, समस्त प्राणियों की आत्मा हैं, अँधेरे से जागने वाले संसार में 'स्वयं' को प्रकट करते हैं। हम उस समस्त प्रकाशपुंज के प्रकाश को सूर्य की नयी किरणों में देखते हैं। अरुणोदय का सौन्दर्य हमें सर्वस्व के 'सौन्दर्य' के दर्शन कराता है। आँखें खोलते ही हम देखते हैं कि 'उसकी' आँखें हम पर हैं। उनका प्रताप हर जगह है।" (दूसरी व्याख्या)

या चंद्रमा के बारे में : "आज रात चंद्रमा की भव्यता देखिये तो। उनकी अमृत-सी किरणें हज़ारों दिशाओं में बिखर रही हैं : आज की रात धरती चंद्रमा के रजत रंग में रंग गयी है, वृक्षों ने अपनी हरीतिमा छोड़कर रुपहले रंग धारण कर लिये हैं। मैं आपसे पूछता हूँ, उनसे जो गंगा की रेत की सफेद धारियों पर

चाँदनी का वैभव देख चुके हैं : जब गंगा के मधुर पवन ने अकेले या संग-साथ चलते आपको, आपके शरीर को शीतल कर दिया होता है, सारे विश्व को चंद्रमा का अमृतपान करते देख आपका हृदय भर जाता है, उस समय उन क्षणों में क्या आपने कभी अपने मन में उस 'अनंत ब्रह्म' के औदात्य का अनुभव नहीं किया है ?' (२२वीं व्याख्या)

यहाँ सभी जगह हमें सौन्दर्य का अनोखा प्रेम उनमें मिलता है, जो जाग्रत् दृष्टि का परिचायक है, न कि मुँदी हुई आँखों का। अर्थात् उनका कवि उनके योगी से अधिक मुखर है।

उनके गद्य के इन सौन्दर्यपरक गुण, सूक्ष्म पर्यवेक्षण और ऐंद्रिकता के गुण को स्पष्ट देखा जा सकता है। पर जब वे धर्म या अध्यात्म के सूक्ष्म या गूढ़ सिद्धांतों का विवेचन करते हैं तो उन्हें हम एक दूसरे ही चिंतन-धरातल पर पाते हैं : 'आत्मजीवनी' के आरंभिक पृष्ठ, 'ब्रह्मोधर्म' में टीका का अंश, 'आत्मतत्त्वविद्या, 'ब्रह्मोधर्मेर मत ओ विश्वास' या 'कालिकाता ब्रह्मो समाजेर वक्तृता' या 'ब्रह्मो-धर्मेर व्याख्यान' के अधिकांश में यह द्रष्टव्य है। संवेदनशील कल्पना की जगह यहाँ गहन चिंतन ने ली है। मैथ्यू आर्नल्ड ने जिसे 'एंटिक प्रोज' कहा है—संयम, गरिमा, अभिव्यक्ति की बारीकी और प्रांजलता, भाषा का सम-स्वर, किफ़ायत और सटीकता के साथ सही शब्दों का चयन—यह सब इनकी रचनाओं में सहज मिल जाएगा। वे चित्रकार से अधिक शिल्पी थे। इन क्षेत्रों में, प्रकृति के दृश्य, श्रव्य सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त शैली की एकदम विपरीत शैली यहाँ मिलती है। यहाँ जोर भूमा पर है न कि हल्के प्रवाह और दक्ष चाल पर। इस प्रकार के उनके लेखन में जल्दबाजी या चपलता रंचमात्र न थी, क्योंकि मुख्य स्वर गंभीर, शांत और संयत था। मूर्तिशिल्प के शैली-गुणों से यह तात्पर्य नहीं है कि वे संप्रेषण के प्रति पर्याप्त गंभीर न थे; बल्कि उन्होंने संप्रेषण का अति गंभीर प्रयत्न किया है।

नीचे मैं उनके 'ब्रह्मोधर्मेर मत ओ विश्वास' से उद्धरण देता हूँ जो कि १८६० में ब्रह्म विद्यालय में उनके व्याख्यानों का संकलन है। इससे उनकी दूसरी किस्म की रचनाओं के गुणों का परिचय मिलेगा। सातवाँ व्याख्यान जीवनोत्तर जीवन पर है। उसमें कहा गया है :

"जब शरीर और आत्मा इतने भिन्न हैं तो मृत्यु के बाद आत्मा का विनाश कैसे हो सकता है ? हम किसी भी वस्तु का विनाश करने की कल्पना नहीं कर सकते। जिस ब्रह्म ने अपनी अन्वेषण-प्रतिभा से इन वस्तुओं को रचा है केवल 'वही' विनाश-शक्ति का धारक है। इस सृष्टि का कोई अणु भी ईश्वर की संहार-इच्छा के बिना नष्ट नहीं हो सकता। पर ईश्वर ने उस इच्छा का प्रयोग करना छोड़ दिया है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भौतिक तत्त्वों से मिल सकता है। इनमें से किसी भी तत्त्व का नाश नहीं होता। जल सूखकर भाप बन जाता है; वह भाप पुनः जल बन जाती है। वृक्षों के सूखे पत्ते गिरकर विलुप्त हो जाते हैं; पर वही पुनः खाद बनकर पौधों के विकास में सहायक होते हैं। मृत शरीर का प्रत्येक अंग प्रत्येक हड्डी, प्रत्येक अणु बिखर जाता है, पर उसमें से कुछ भी नष्ट नहीं होता। इसलिए किस तर्क से यह प्रमाणित किया जा सकता है कि केवल आत्मा ही मृत्यु के बाद नष्ट हो जाएगी ? जब अणु-अणु अक्षत रहता है तो क्या ईश्वर आत्मा को नष्ट करने की इच्छा करेगा ?"

या फिर 'कालिकाता ब्रह्मो समाजेर वक्तृता' में एक व्याख्यान का यह अंश देखिए : "यद्यपि हम अकिंचन प्राणी हैं, पर हमारे सभी सौभाग्यों में सर्वप्रमुख यह है कि हम ब्रह्म को जानने के अधिकारी हैं। पर इस महान् विशेषाधिकार के योग्य होने के लिए हमें निरंतर अपनी आत्मा का परिमार्जन करना चाहिए। आत्मा को पवित्र किए बिना कोई भी उसमें स्थित परमविशुद्ध, सर्वज्ञ मुक्त ब्रह्म को नहीं अनुभव कर सकता···यदि हम उस शुद्ध प्रबुद्ध के वाहन योग्य अपनी आत्मा को बनाने के लिए उसे पर्याप्त रूप से पवित्र कर सकें तो ब्रह्म के प्रति अनुराग स्वतः प्रवाहित होने लगेगा। और एक बार इस अनुराग के उदित होने पर ब्रह्म को प्रिय सभी चीजें प्राप्त करने तथा उनके परमानंदमय विचारों का अनुसरण करने की गंभीरता स्वतः उत्पन्न हो जाएगी। यदि हम 'उसके' परमानंद को अपना आदर्श बनाए रख सकें तो निश्चय ही हम भयमुक्त और सुखी हो सकते हैं।"

१८६४ में देवेन्द्रनाथ ने 'ब्रह्मो बंधु सभा' (केशवचंद्र सेन की संगत सभा की इकाई) में भाषण किया जो 'ब्रह्मोसमाजेर पंचविंशति बत्सरेर परीक्षित वृत्तांत' के नाम से छपा है। इसमें इन्होंने ब्रह्मो समाज के पच्चीस वर्षों के अनुभव का आख्यान किया है। इस व्याख्यान की प्रस्तावना में यह सटीक उक्ति है : "प्रेम के बिना ब्रह्म का ज्ञान शुष्क ज्ञान है; ज्ञानहीन प्रेम अंधकार है। ज्ञान हो या प्रेम, व्यवहार के बिना दोनों व्यर्थ हैं; इसके विपरीत ज्ञान या प्रेम से रहित व्यवहार कोरा दिखावा है।"

'ज्ञान ओ धर्मेर उन्नति' पार्क स्ट्रीट के घर में देवेन्द्रनाथ द्वारा अपने बच्चों को दिए अनौपचारिक १४ भाषणों का संग्रह है जिसमें उन्होंने भूलोक और मानव सभ्यता के बारे में कुछ बुनियादी तथ्यों का विवेचन किया है। ये व्याख्यान १८९०-९१ के बीच दिए गए थे तथा क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, उनके एकपौत्र, ने उन्हें दर्ज किया था। १८९३ में ये प्रकाशित हुए।

इन लेखों में महर्षि ने मनुष्य तथा धर्म के विकास की गाथा कही है। ब्रह्माण्ड में पृथ्वी के जन्म, जीवन के संचार, प्राणियों के विकास, निरंतर परिवर्तन की प्रक्रिया में मनुष्य का आविर्भाव और इस प्रकार आधुनिक युग तक की गाथा इसका विषय है। यद्यपि ये मुख्यतः बच्चों के लिए लिखे गए हैं। पर इन लेखों से देवेन्द्रनाथ का भूभौतिकी, नृतत्त्व, ज्योतिष, इतिहास इत्यादि विषयों का गहन ज्ञान

सामने आता है। देवेन्द्रनाथ भूभौतिकी, शरीरशास्त्र और ज्योतिष के अध्येता थे तथा विज्ञान के इन क्षेत्रों में नवीनतम आविष्कारों का ज्ञान रखते थे। उनके निजी पुस्तकालय में, जो शांतिनिकेतन पुस्तकालय को दान किया गया, वैज्ञानिक विषयों की काफी पुस्तकें थीं और अधिकांश पुस्तकों के हाशिये पर टिप्पणियाँ मिलती हैं जिनसे पता चलता है कि उन्होंने गहराई से इनका अध्ययन किया था।

अंत में उनकी 'पत्रावली' १८५०-८७ के बीच विभिन्न समय पर राजनारायण बोस, वच्चाराम चटर्जी, केशवचंद्र सेन, प्रतापचंद मजूमदार, विजयकृष्ण गोस्वामी, सौदामिनी देवी, नवकृष्ण चटर्जी इत्यादि को लिखे गए पत्रों का यह संकलन है। पत्र दो-टूक शैली में, आत्मिक और घनिष्ठता के भाव से लिखे गए हैं। इसी में केशवचंद्र सेन के दस और द्वारिकानाथ तथा प्रोफेसर मैक्समुलर के एक-एक पत्र भी हैं।

'आत्मजीवनी' उन्होंने बोलकर लिखायी थी। पंडित प्रियनाथ शास्त्री ने अधिकांश तथा पंडित हेमचंद्र विद्यारत्न ने शेष श्रुतलेख लिया था। प्रियनाथ ने उसे १८९८ में छपाया। देवेन्द्रनाथ के संपूर्ण लेखन में यही सबसे महत्वपूर्ण कृति थी।

१८४५ से १८९५ की ५० वर्ष लंबी अवधि में देवेन्द्रनाथ ने यही मुख्य कृतियाँ रची थीं। अन्य रचनाएँ भी हैं, जो पुस्तिकाओं के रूप में हैं।

'ब्रह्मोधर्मः,' 'ब्रह्मोधर्मेर व्याख्यान', 'ज्ञान ओ धर्मेर उन्नति' तथा 'आत्मजीवनी' ये चारों सबसे महत्त्व की कृतियाँ हैं जिनमें 'आत्मजीवनी' श्रेष्ठतम है। इनमें हमें एक आत्मदर्शी, ईश्वरभक्त, गंभीर धर्मचिंतक वैज्ञानिक सत्यों का संधानकर्त्ता और कवि दृष्टिगोचर होता है। वे दोहरे अर्थ में द्रष्टा थे—जीवन को भीतर से और बाहर से भी देखने में समर्थ। यदि देवेन्द्रनाथ ने केवल ये चार किताबें लिखी होतीं और अन्य प्रकाशनों का लोप हो जाता तब भी उन्नींसवीं सदी के बाङ्ला गद्यकारों में उनका नाम अमिट होता।

गद्य की अनेक प्रभावशाली रचनाओं के अलावा देवेन्द्रनाथ ने अनेक भजन और ब्रह्मसंगीत भी लिखे हैं। भजन प्रायः पुराने संस्कृत स्तोत्रों का रूपांतरण है जब कि ब्रह्मसंगीत मूल बाङ्ला के गीत हैं, जिनका एक उदाहरण 'कैनो भूले-भूले चिरसुहृदे है :

'क्यों भूलते हो अपने चिर मित्र को ? उसे मत भूलो।
समृद्धि, जीवन और सम्मान के दाता, सर्वस्व दाता
को भूलते क्यों हो ?
दूर मत रहो, उससे दूर मत रहो;
उनके बिना कहाँ है चैन, कहाँ शांति ?
अरे क्यों भूलते हो उस जीवनसंगी को, सतत
साहाय्य के स्रोत और करुणानिधान को ?'

यह कोई बहुत मौलिक भजन नहीं है पर इन पंक्तियों में भावनाओं की प्रामाणिकता से इनकार नहीं किया जा सकता। 'कुकुभ' राग और 'अधठेका' ताल में यह भजन निबद्ध है। ब्रह्मसंगीत प्रायः ध्रुपद शैली में गाए जाते हैं। राममोहन और देवेन्द्रनाथ ने जो मार्ग दिखाया, रवीन्द्रनाथ ने आगे चलकर इसी तरह के अनेक गीत रचे जो शब्द और धुन में अद्वितीय हैं।

संक्षेप में, इस अध्ययन के समापन के तौर पर मैं रवीन्द्रनाथ के शब्दों को उद्धृत करता हूँ जो अपने विख्यात पिता की साधना का सच्चा स्वरूप निर्दशित करते हैं तथा उनकी साहित्यिक एवं धार्मिक साधनाओं पर प्रकाश डालते हैं :

"सत्य का साक्षात्कार करने की आकांक्षा—यह केवल जिज्ञासा, ज्ञान-पिपासा का प्रतिफल नहीं बल्कि आंतरिक गहन इच्छा थी—वे न केवल सत्य को ज्ञान के रूप में अनुभव करना चाहते थे बल्कि आनंद के रूप में भी। यहीं उनकी प्रकृति एक संपूर्ण अन्विति की खोज कर रही थी। महर्षि ने ज्ञान में और भक्ति में ब्रह्म की खोज की और अपने संपूर्ण अस्तित्व से यह खोज की। कठिनाइयों, प्रयत्नों, समाहारों और परित्यागों की निरंतर प्रक्रिया से उनका हृदय ब्रह्म तक, अनंत आनंद और सुख के ब्रह्म तक पहुँचने के लिए छटपटाता रहा। अपना लक्ष्य प्राप्त करने से पहले उन्होंने एक क्षण भी विश्राम नहीं किया।" (महर्षि देवेन्द्रनाथ : रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती)

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ और घटनाएँ

१८१७ : कलकत्ता में २५ मई को जन्म।

१८२३ : द्वारकानाथ ठाकुर को श्री प्लाउडन, चौबीस परगना के कलक्टर एवं सॉल्ट एजेण्ट, के अधीन, दीवान के पद पर नियुक्त किया गया।

१८२७ : देवेन्द्रनाथ राजा राममोहन राय के ऐंग्लो हिन्दू स्कूल में भर्ती हुए।

१८२८ : २० अगस्त, चितपुर, कलकत्ता में राजा राममोहन राय द्वारा कमल-लोचन बसु के घर ब्रह्म समाज की स्थापना।

१८२९ : १ अगस्त, यूनियन बैंक की स्थापना।

१८३० : १९ नवंबर, राममोहन का इंग्लैंड के लिए प्रस्थान, देवेन्द्रनाथ से भावभीनी विदाई।

१८३१ : हिन्दू कॉलेज में प्रवेश।

१८३३ : सर्वतत्वदीपिका सभा का समारंभ, जिसमें सभी कार्रवाई बाङ्ला में होती थी।

१८३३ : हिन्दू कालिज छोड़ा।

१८३४ : विवाह, १७ वर्ष की आयु। वधू शारदा देवी की आयु ८ वर्ष।
द्वारकानाथ ने नौकरी छोड़कर 'कार, टैगोर ऐंड कम्पनी' नामक व्यापारिक संस्थान खोला।
देवेन्द्रनाथ यूनियन बैंक में सहायक खजांची बने।

१८३८ : दादी की मृत्यु। उनकी मृत्यु के समय देवेन्द्रनाथ को एक अजीब अनुभूति हुई जिससे वे बेचैन हो गए।

१८३९ : ६ अक्टूबर। 'तत्त्वरंजिनी सभा' स्थापित की, जिसका नाम बाद में रामचंद्र विद्यावागीश के सुझाव पर 'तत्त्वबोधिनी सभा' रखा गया।
मूर्तिपूजा छोड़ने का व्रत लिया।
'ईशोपनिषद' का एक पन्ना हाथ लग गया जिसका गहरा प्रभाव हुआ।
विद्यावागीश के साथ उपनिषदों का अध्ययन शुरू किया।

१८४० : जून 'तत्त्वबोधिनी पाठशाला' स्थापित कर अक्षयकुमार दत्त को उसमें एक शिक्षक बनाया।

१८४१ : १४ सितंबर, 'तत्त्वबोधिनी सभा' का सोत्साह वार्षिकोत्सव मनाया।

१८४२ : ९ जनवरी, द्वारकानाथ इंग्लैंड गए।

१८४३ : जनवरी, द्वारकानाथ इंग्लैंड से लौटे।
अगस्त, 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' आरंभ कर अक्षयकुमार दत्त को संपादक नियुक्त किया।
'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में उपनिषदों का अनुवाद शुरू किया।
२१ दिसंबर : रामचंद्र विद्यावागीश के पौरोहित्य में बीस साथियों समेत ब्रह्म धर्म में दीक्षा ली।

१८४५ : ८ मार्च, द्वारकानाथ दूसरी बार इंग्लैंड गए। २५ मई, 'हिन्दू हितार्थी विद्यालय' की स्थापना ईसाई मिशनरी प्रचार का सामना करने के लिए।
अलैक्जेंडर डफ ने हिन्दू धर्म पर जो आरोप लगाये थे, उनके प्रत्याख्यान में 'वेदांतिक डॉक्ट्रिन्स विंडिकेटेड' प्रकाशित की।
अक्षयकुमार दत्त से वेदों के अपौरुषेय होने न होने पर विवाद।
२० दिसंबर, गोरिति के घर बगीचे में ५०० से अधिक ब्रह्म समाजियों का मेला।

१८४६ : २२ मई, इंग्लैंड से द्वारकानाथ ने देवेन्द्रनाथ को सांसारिक चीजों से विरक्ति पर फटकारते हुए पत्र लिखा।
१ अगस्त, इंग्लैंड में द्वारकानाथ की मृत्यु। १५ अक्टूबर, मूर्त्तिपूजकों से भिन्न रीति से पिता का श्राद्ध किया, जिससे संबंधी क्षुब्ध हुए।

१८४७ : सितंबर, बनारस के वैदिक पंडितों से संभाषण के लिए पहुँचे।
२७-३१ दिसंबर, यूनियन बैंक का दीवाला पिट गया।

१८४८ : १२ जनवरी, 'कार, टैगोर ऐंड कम्पनी' बंद हो गयी। खर्च कम करने के लिए सादगी अपनायी। संस्कृत ग्रंथों का अधिक एकाग्रता से पारायण शुरू किया। शास्त्रों के इस अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'उपनिषद्' ब्रह्म समाज का आधार नहीं रह सकते।
मार्च, 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में ऋग्वेद का अनुवाद शुरू किया। अनुवाद कार्य २४ वर्ष चलता रहा।
४ अप्रैल, 'कार, टैगोर ऐंड कम्पनी' के साहूकारों की बैठक में कम्पनी के जमा खर्च के हिसाब के बाद तय हुआ कि कम्पनी के दीवालिया होने के बाद द्वारकानाथ के पुत्रों को ऋण-अदायगी के लिए उचित समय दिया जाएगा।
'ब्रह्मोधर्म' पुस्तक का पहला मसविदा लिखा।

१८४९ : ब्रह्मोधर्म (टीका-रहित) प्रकाशित।

१८५१ : ३१ अक्टूबर, ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के सचिव बने।

१८५६ : ३ अक्टूबर, हिमालय की यात्रा।

१८५७ : २७ अप्रैल, शिमला पहुँचे। २० महीने तक शिमला पहाड़ियों में अनेक स्थानों पर रहे।

१८५८ : १५ नवंबर। कलकत्ता लौटे।

१८५९ : तत्त्वबोधिनी सभा भंग कर उसका प्रचार कार्य ब्रह्मो समाज को सौंपा। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने जब 'समाज' के सचिव पद से त्यागपत्र दे दिया तो देवेन्द्रनाथ तथा केशवचंद्र सेन संयुक्त सचिव बने।
२७ सितंबर, अपने दूसरे पुत्र सत्येन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन के साथ श्री लंका के लिए प्रस्थान, प्रचारार्थ।

१८६१ : इंग्लैंड के मेथॉडिस्ट एसोसिएशन की तरह 'संगत सभा' की स्थापना केशवचंद्र सेन द्वारा।

१८६२ : १८ अप्रैल, केशव को ब्रह्म समाज का आचार्य पद दिया।

१८६३ : बोलपुर के पास जमीन का एक बड़ा प्लॉट खरीदा जो आगे उनके पुत्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रसिद्ध 'शांतिनिकेतन ब्रह्मचर्य आश्रम' बना।

१८६४ : केशव से मतभेद के पहले चिह्न सामाजिक और धार्मिक सुधारों के प्रश्न पर।
अक्टूबर, केशव के अनुयायियों ने समाज के आचार्यों द्वारा जनेऊ पहनने के प्रश्न पर वरिष्ठ नेतृत्व से खुला विद्रोह किया।

१८६६ : केशव के नेतृत्व में नये दल ने ब्रह्म समाज से अलग होकर 'ब्रह्म समाज ऑफ इंडिया' की स्थापना की।

१८६७-७० : सार्वजनिक जीवन से अलग होकर अधिकांश समय यात्राओं में बिताया।

१८७२ : केशवचंद्र के 'ब्रह्मो मैरिज बिल' पर ब्रह्म समाज में उथल-पुथल। देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में 'आदि ब्रह्मो समाज' ने उसके प्रावधानों का विरोध किया।

१८७३-७५ : अधिकांश समय प्रवास में, मुख्यतः हिमालय में बिताया।

१८७५ : मार्च, पत्नी शारदा देवी का कलकत्ता में निधन।

१८७७-७८ : चीन-यात्रा।

१८७९-८५ : स्वास्थ्य-सुधार के लिए देश के विभिन्न भागों की यात्रा।

१८८६ : बोलपुर की जमीन के बारे में यह वसीयत लिखायी कि उस जमीन का उपयोग केवल निर्गुण ब्रह्म की आराधना के लिए आश्रम की रचना में किया जाएगा।

१८९८ : 'आत्मजीवनी' प्रकाशित।

१९०५ : १९ जनवरी, कलकत्ता में निधन।

ग्रंथ-सूची

यह महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर रचित तथा उनके बारे में लिखित चुने हुए ग्रंथों की सूची है। महर्षि पर पुस्तकों की सूची बनाने में लेखक पर जोगेशचंद्र बगाल का अमूल्य ऋण है। बंगीय साहित्य परिषद् ने अपनी साहित्य साधक चरितमाला में बगाल-रचित जीवनी 'देवेन्द्रनाथ ठाकुर' प्रकाशित की थी जिसके अंतिम पृष्ठों में इस लेखक को अनेक सूचनाएँ मिलीं।

बाङ्ला

'बाङला भाषाय संस्कृत व्याकरण' 'संभवतः १८३८ के आसपास देवेन्द्रनाथ लिखित पहली पुस्तक। अप्राप्य। 'ब्रह्मोधर्म' पहला तथा दूसरा भाग, १८४९। १८५१-५२ में बाङला अनुवाद सहित एक नया संस्करण छपा। टीका-टिप्पणियों के साथ पूरा ग्रंथ १८६९ में छपा।

'आत्मतत्त्वविद्या', १८५२, 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

'ब्रह्मोधर्मेर मत ओ बिशाश', १८९०, ब्रह्म विद्यालय में १८५९-६० में दिए गए दस भाषणों का संग्रह।

'पश्चिम प्रदेशेर दुर्भिक्ष उपशमे सहाज्जो संग्रहार्थ ब्रह्मोसमाजेर वक्तृता', १८६१, उत्तरपश्चिमी प्रांत में अकाल राहत के लिए ब्रह्म समाज के मंच से प्रार्थ-नोत्तर अपील।

'कालिकता ब्रह्मो समाजेर वक्तृता', १८६२, हिमालय से लौटकर दिए गए भाषण। जदुनाथ चटर्जी द्वारा संकलित-संपादित।

'मासिक ब्रह्मो समाजेर उपदेश', १८६०-६७ में ब्रह्म समाज में दिए गए १८ प्रवचन।

'ब्रह्मोधर्मेर बैख्खान', प्रथम खंड : १८६१ द्वितीय खंड : १८६६। दोनों खंडों का 'उपसंहार' : १८८५। ब्रह्म समाज के मंच से देवेन्द्रनाथ द्वारा दिए गए पहले प्रवचनों का संकलन।

'ब्रह्मो विवाह प्रणाली', १८६४।

'ब्रह्मो समाजेर पंचविंशति बत्सरेर परीक्षित वृत्तांत', १८६४ में 'ब्रह्मो-बंधु समाज में ब्रह्म समाज के २५ वर्ष पूरे होने पर दिया गया व्याख्यान।

'ब्रह्मोधर्मेर अनुष्ठान पद्धति', १८६५, जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाह

इत्यादि संस्कारों पर।

'भवानीपुर ब्रह्मविद्यालयेर उपदेश' १८६५-६६।

'ज्ञान ओ धर्मेर उन्नति', १८९३। जगत् की उत्पत्ति, मनुष्य के विकास इत्यादि पर चौदह अनौपचारिक प्रवचनों का संग्रह। संग्रहकर्ता क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर।

'परलोक ओ मुक्ति', १८९५।

'पूज्यपाद श्रीमन्महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरेर स्वरचित जीवनचरित' (आत्म कथा), १८९८। प्रियनाथ शास्त्री ने इसका चौथा संस्करण 'आत्मजीवनी' नाम से १९६२ में प्रकाशित किया। संपादक सतीशचंद्र चक्रवर्ती, विश्वभारती।

'पत्रावलि,' १८५०-८७ में लिखे पत्र, प्रकाशक प्रियनाथ शास्त्री। हितवादी प्रेस, कलकत्ता।

अंग्रेजी

'वेदांतिक डॉक्ट्रिन्स विंडिकेटेड,' १८४५। अलेक्जेंडर डफ़ द्वारा हिन्दूधर्म पर प्रहार के जवाब में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में छपे लेख।

'दि ऑटोबायग्राफी ऑफ महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर,' एस० के० लाहिड़ी ऐंड कम्पनी, कलकत्ता, १९०९। मूल बाङ्ला से अनुवाद—सत्येन्द्रनाथ ठाकुर एवं इंदिरा देवी, दूसरा संस्करण, मैकमिलन ऐंड कम्पनी, लंदन, १९१४।

देवेन्द्रनाथ के संबंध में पुस्तकें

बाङ्ला

जोगेशचंद्र बगाल : 'देवेन्द्रनाथ ठाकुर', तीसरा संस्करण बंगीय साहित्य परिषद्। कलकत्ता, १९५७

राजनारायण बोस : 'शेकाल आर एकाल', कलकत्ता, १३५८ बंगाली संवत्।

जोगेशचंद्र बगाल, देवज्योति बर्मन, सतीशचंद्र चक्रवर्ती } आत्मजीवनी के उपसंहार में तीनों की अनेक टिप्पणियाँ संपादक सतीशचंद्र चक्रवर्ती, चौथा संस्करण, विश्वभारती १९६२।

अजित कुमार चक्रवर्ती : 'महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर' इंडियन प्रेस, इलाहाबाद १९६० 'नया संस्करण, जिज्ञासा, कलकत्ता, १९७१।

नगेन्द्रनाथ चटर्जी : 'महात्मा राजा राममोहन रायेर जीवन चरित' पाँचवाँ संस्करण। इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९२८। पुनर्मुद्रित, दे बुक स्टोर, कलकत्ता, १९७१

भवसिंधु दत्त : 'महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरेर जीवन चरित', कलकत्ता १९१४।

प्रभातकुमार मुखोपाध्याय : 'रवीन्द्र जीवनी', पहला खंड, विश्व भारती।

क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर : 'द्वारकानाथ ठाकुरेर जीवनी' रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९६९।

रवीन्द्र ठाकुर : 'महर्षि देवेन्द्रनाथ', इसमें सौदामिनी देवी के अपने पिता के संस्मरण 'पितृस्मृति' शामिल हैं। संकलनकर्ता पुलिन बिहारी सेन, विश्वभारती, १९६७।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर : महर्षि के १५०वें जन्मदिन पर प्रकाशित शांतिनिकेतन, १९६७।

अंग्रेजी

सुकुमार हाल्दार, बी० ए० : 'ए मिड विक्टोरियन हिन्दू, ए स्केच ऑफ द लाइफ ऐंड टाइम्स ऑफ राखाल दास हाल्दार, १९२१।

किशोरीचंद्र मित्र : 'मेम्वार ऑफ द्वारकानाथ टैगोर, ठक्कर, स्पिंक ऐंड कम्पनी, १८७०।

शिवनाथ शास्त्री एम० ए० : 'हिस्ट्री ऑफ द ब्रह्मो समाज' खंड १, दूसरा संस्करण। आर० चटर्जी, १९१९।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५) ने बाङ्ला साहित्य को जो अवदान दिया वह संयोगवश ही, इस अर्थ में कि उनकी मूल चेष्टा सुचिंतित भाषा और व्यवस्थित शैली में अपने धार्मिक विश्वासों का विवेचन करने की ही थी । वे राममोहन की विरासत के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी थे। ऐतिहासिक रूप से वे राममोहन राय तथा उनके परवर्ती धर्म-सुधारकों के बीच की कड़ी थे। उनके साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन तभी हो सकता है जब हम उनकी आध्यात्मिक यात्राओं के क्षेत्र का अन्वेषण करें। उनकी रचनाओं में 'आत्मजीवनी' निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ है । अन्य एक कृति, 'ब्रह्मोधर्मेर व्याख्यान', का विषय उसके नाम से ही प्रकट है। वे इसी जीवन में जीवन के कुछ सनातन सत्यों का संधान कर रहे थे जिनका उल्लेख प्राचीन ऋषियों ने उपनिषदों और अन्य संस्कृत ग्रंथों में किया है। उनका साहित्य मूलतः इसी अन्वेषण का पुनराख्यान है।

उनकी गद्य रचनाएँ अपने सौष्ठव और संतुलित शैली, अभिव्यक्ति की गरिमा और शालीनता, और सर्वोपरि, प्रकृति के सौंदर्य के सूक्ष्म चित्रण के कारण उल्लेख्य हैं।

राममोहन, ईश्वरचंद्र और अक्षयकुमार दत्त के साथ देवेन्द्रनाथ को बाङ्ला गद्य के शैशव-काल में उसके प्रमुख निर्माताओं में गिना जा सकता है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन और कृतित्व पर अपनी इस पुस्तिका में नारायण चौधुरी ने बहुत कुशलता से उनके धार्मिक व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में उनके साहित्यिक अवदान को उकेरा है।

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15-00

साहित्य अकादेमी भारतीय-साहित्य के विकास के लिए कार्य करने वाली राष्ट्रीय महत्त्व की स्वायत्त संस्था है, जिसकी स्थापना भारत सरकार ने १९५४ में की थी। इसकी नीतियाँ एक ८२-सदस्यीय परिषद् द्वारा निर्धारित की जाती हैं जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं, राज्यों और विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होते हैं।

साहित्य अकादेमी का प्रमुख उद्देश्य है—ऊँचे साहित्यिक प्रतिमान कायम करना, विभिन्न भारतीय भाषाओं में होने वाले साहित्यिक कार्यों को अग्रसर करना और उनका समन्वय करना, तथा उनके माध्यम से देश की सांस्कृतिक एकता का उन्नयन करना।

यद्यपि भारतीय साहित्य एक है, तथापि एक भाषा के लेखक और पाठक अपने ही देश की अन्य पड़ोसी भाषाओं की गतिविधियों से प्रायः अनभिज्ञ ही जान पड़ते हैं। भारतीय पाठक भाषा और लिपि की दीवारों को लाँघकर एक-दूसरे से अधिकाधिक परिचित होकर देश की साहित्यिक विरासत की अपार विविधता और अनेकरूपता का और अधिक रसास्वादन कर सकें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य अकादेमी ने एक विस्तृत अनुवाद-प्रकाशन योजना हाथ में ली है। इस योजना के अन्तर्गत अब तक जो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, उनकी वृहद सूची साहित्य अकादेमी के विक्रय विभाग से निःशुल्क प्राप्त की जा सकती है।